प्राक्कथन

ड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस वर्ष यह महाविद्यालय अपने जीवन के पच्चीस
कर छब्बीसवें में प्रवेश कर रहा है; महाविद्यालय का 'यह रजत-जयन्ति वर्ष' है,
ान्ति मय है।

शिक्षा स्वयं बहुत पवित्र और महत्वपूर्ण कार्य है। फिर जो शिक्षा देने का काम
उनकी 'प्रशिक्षा का काम' कितना अधिक महत्वपूर्ण है, इसकी विवेचना करना
ावश्यक नहीं है। वह एक स्वतः स्पष्ट, स्वतः उजागर तथ्य है।

किन्तु शिक्षक-प्रशिक्षण का यह महत्व उन लोगो पर, जो कि उसके आयोजन और
पन से निश्चित ही बहुत सम्बद्ध हैं, भारी जिम्मेदारी डाल देने वाली स्थिति है।
प्रशिक्षण के क्षेत्र में काम करने वाले इस जिम्मेदारी और उससे जुड़ी विविध
ाओं के बारे में सतत जागरूक रह कर ही इस कार्य के प्रति, और स्वयं अपने आप
भी, सच्चे मायने में न्याय कर सकते हैं।

शिक्षा-जगत की सेवा में अर्पित उसके जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे हो रहे हैं, तेसे
महाविद्यालय 'आत्मलीन' नहीं, 'आत्मालोचक' बनकर अपने समस्त कार्य सभार
ार्य-क्षेत्र के आलोचन-विवेचन की मन स्थिति में अपने आपको पाये और रखे यह
ही होगा।

अपने 'रजत-जयन्ति-वर्ष' के प्रसंगत महाविद्यालय ने 'शिक्षक-प्रशिक्षण के विविध
। और तदन्तर्गत हमारी बहुमुखी प्रगति नई अपेक्षाएँ व विकास की भावी सम्भा-
"— नाम से एक विशेष अंशिक-प्रायोजना लेकर इस वर्ष कार्य किया। अपने
प्राध्यापकों के निर्देशन में महाविद्यालय के छात्र-छात्राओं ने भी वर्गों में बँटकर
अध्ययन-प्रायोजना के विभिन्न अंगों और पक्षों पर विस्तार से अध्ययन किया।
र १७ और १८ अप्रैल को आयोज्य अपने 'रजत-जयन्ति-समारोह' के अवसर पर
द्यालय, एक विनम्र प्रयास के रूप में, उक्त प्रायोजना के अन्तर्गत हुए अध्ययन-कार्य
ी प्रदर्शनायें प्रस्तुत करेगा। आगे, इस 'अध्ययन अनुशीलन' के प्रसंगत संस्था क
प्रशिक्षार्थियों के द्वारा लिखित तथा लिखित सामग्री में से भी कुछ सुचयित तथा
ादित सामग्री एक पृथक प्रकाशन के रूप में प्रस्तुत की जा सके, यह विचार भी
विद्यालय के सामने है।

सम्प्रति मात्र इस प्रस्तुत 'स्मारिका' के रूप में, जिसमें, जैसा कि स्वयं उसके नाम
गित मिलता है, शिक्षण-प्रशिक्षण तथा शिक्षानुसन्धान-विषयक कतिपय प्रश्न तथा
ार संग्रहीत हैं और साथ में महाविद्यालय के विकास, उसकी अद्यतन परिविधि तथा
ी वर्तमान प्रचलित स्थिति का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है, यह विनम्र भेंट
ाज तथा शिक्षक-प्रशिक्षण-बन्धुओं तथा शैक्षिक चिन्तकों की सेवा में सादर प्रस्तुत है।

अनुक्रमणिका

खण्ड प्रथम : महाविद्यालय इतिवृत्त

खण्ड द्वितीय : शिक्षण

खण्ड तृतीय प्रशिक्षण

खण्ड चतुर्थ : शिक्षानुसंधान

•

महाविद्यालय-भवन

पुस्तकालय में अध्ययन-रत प्रशिक्षणार्थी

अधिस्नातक स्तरीय विचारगोष्ठी

मनोविज्ञान प्रयोगशाला में परीक्षण

खण्ड प्रथम

महाविद्यालय इतिवृत्त

राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर

आरम्भ से अद्यतन

चिरंजीलाल भारद्वाज

राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर इस वर्ष अपनी रजत-जयन्ती
ना रहा है यह प्रसन्नता की बात है। महाविद्यालय के रूप में इस संस्था ने इस वर्ष
पने जीवन के २५ वर्ष पूर्ण कर लिए हैं। इसका अस्तित्व इससे भी कहीं पहले का है।
र्व प्रथम सन् १६४१ में इसका जन्म शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय के रूप में एक दो कमरे
ाली कुटिया में जो पुराने गढ के सामने है, हुआ था और उस समय सूर सागर के किनारे
र स्थित होने के कारण इसे नदी-तट के गुरुकुलों की उपमा से विभूषित किया जाया
रता था। उस रूप में इस संस्था के पांच वर्ष के जीवन काल की दो विशेषताएं उल्लेख-
ीय है जो आजकल से बिल्कुल भिन्न हैं। पहली तो यह कि उन दिनों शिक्षक उपलब्ध
हीं होते थे। नौकरियाँ इनकी प्रतीक्षा किया करती थी। आजकल नौकरियाँ नहीं है,
रों शिक्षक बेकार बैठे हैं। उस समय विश्व युद्ध की विभीषिका में हजारों माई के लाल
पनी आहुति दे रहे थे; युद्ध संचालन के लिए सैंकड़ों नये विभाग खुले हुए थे। प्रशिक्षण
स्थाएं तो उन दिनों अँगुलियों पर गिनी जा सकती थी। अप्रशिक्षित शिक्षक भी उपलब्ध
नहीं थे। दूसरी विशेषता थी प्रशिक्षण की सुविधाओं की। प्रशिक्षणार्थियों को आवास,
अध्यापन, बिजली, पानी आदि के लिए कुछ भी शुल्क नहीं देना पड़ता था। रसोइये
तक सरकारी थे। अध्यापकों को पूरे वेतन के साथ कुछ एलाउंस भी मिलता था तथा
पुस्तकालय से सबके लिए पुस्तकें उपलब्ध थीं। विद्यार्थियों की संख्या २० होती थी।
चूंकि मैंने उसी वर्ष बनारस से बी. टी. उत्तीर्ण की थी इसलिए प्रधानाध्यापक का कार्य-
भार मुझे सौंपा गया।

सन् १९४६ ई. में इस विद्यालय को महाविद्यालय में परिवर्तित
स्वीकृति बीकानेर राज्य सरकार ने राजपूताना बोर्ड अजमेर से प्राप्त करली।
आश्चर्यजनक बात थी कि जयपुर और जोधपुर जैसे बड़े रजवाड़ों ने भी
महाविद्यालय खोलने का अभीतक साहस नहीं किया था क्योंकि खर्च अधिक
कम थी। रियासतें व्यय का बड़ा ध्यान रखती थीं। सी. टी परीक्षा राजपू
द्वारा ली जाती थी तथा प्रशिक्षण के लिए न्यूनतम योग्यता इन्टरमीडिएट थी
वर्ष राज्य की ओर से ११ शिक्षक भेजे गये थे। उस समय सभी प्रकार
सम्बन्धी नि.शुल्क सुविधाओं के अतिरिक्त पूरा वेतन व भत्ता भी मिलता था।

महाविद्यालय घोषित किए जाने पर नये आचार्य की नियुक्ति हुई और
भवन के ऊपरी भाग मे इसे अवस्थित किया गया। इससे पूर्व इस भवन मे द्वितीय
से लौटे घायल जवानों का अस्पताल था। सन् १९४७ के जून मास तक स
स्वस्थ होने पर मुक्त कर दिये गये और सारा भवन महाविद्यालय को प्रदान
गया।

आचार्य श्री सी. पी. शर्मा मेरठ निवासी थे और वृद्धावस्था की ओ
होते हुए वे यहाँ पहुँचे थे। यहाँ की परिस्थितियों व वातावरण से अनभिज्ञ होने
कालेज को स्थायित्व देने पुस्तकालय के लिए पुस्तकें चयन करने तथा अन्य
सम्बन्धी कार्य करने का भार मेरे और श्री माधोराम पालीवाल के कंधों पर पड़
की गति बड़ी विलक्षण है। उस समय लोग पूछते, "प्रशिक्षण से क्या लाभ ?
वेतन शृंखला बिना प्रशिक्षित हुए मिल जाती है तो फिर दस मास का कष्ट क
जाय ?" उनके इस कथन में सत्यांश अधिक था क्योंकि उस समय प्रशिक्षित
के लिए पृथक वेतनमान न था। इसलिए यह प्रशिक्षण कक्षा लोकप्रिय न
नवीन प्रशिक्षणार्थी तो कोई आते ही नहीं थे, सेवारत अध्यापक ही प्रवेश पाते थे।
मे जितनी धन राशि इस पर व्यय की जाती थी उसके अर्द्ध भाग से १५ विद्या
बाहर भेजकर प्रशिक्षित करवाया जा सकता था। शुल्क आदि लेने की अपेक्षा
ध्यापकों को वेतन के अतिरिक्त सहायता और दी जाती थी। तुलना कीजिए
प्रशिक्षण के महत्व की ओर उस पर व्यय की जाने वाली प्रति व्यक्ति की धन
उस समय की प्रशिक्षण सुविधाओं से। इस प्रशिक्षण के लोकप्रिय न होने का ए
यह भी था कि यह शिक्षा स्नातक प्रशिक्षण से निम्न स्तर की व मैट्रिक के स्तर
स्तर की समझी जाती थी तथा बी. ए. पास करने के उपरान्त बी. टी. उत्तीर्
पुन: आवश्यक माना जाता था।

शिक्षा मंत्री सरदार के. एम. पाणिक्कर व उनके योग्य सचिव श्री राम
वर्मा जिनके प्रयत्नों से बीकानेर को प्रशिक्षण महाविद्यालय खोलने का गौर

फायल न जाने किसने गहरे गड्ढे में डाली गई कि फिर वह कभी मिली ही नहीं। श्री मदन मोहन वर्मा जो लब्धप्रतिष्ठ शिक्षा विशेषज्ञ व राजस्थान के शिक्षा विभाग के प्रथम निदेशक नियुक्त हुए थे इस प्रश्न का उत्तर देने में आना कानी करते रहे और इस प्रकार राजस्थान के अध्यापकों की भावनाओं पर तुषारापात हो गया तथा यह कालेज बन्द तो नहीं हुआ किन्तु सी. टी. कालेज ही बना रहा।

सन् १९५० से सारे राजस्थान से शिक्षक यहाँ प्रशिक्षण हेतु आने लगे जिससे छात्रों की संख्या में तो पर्याप्त वृद्धि हो गई किन्तु बी. एड. कक्षाएँ खोलने के सुझाव पर तब तक ध्यान नहीं दिया गया जब तक कि १९५५ ई. में गांधी विद्या मन्दिर सरदारशहर में नया महाविद्यालय नहीं खुल गया। अगले वर्ष सन् १९५६ में अन्ततः बीकानेर में भी बी. एड कक्षाएँ प्रारम्भ कर दी गई। इसके पश्चात् प्रतिवर्ष राजस्थान के किसी न किसी भाग में एक न एक महाविद्यालय खुलने लगा और प्रशिक्षणार्थियों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती गई। इस समय राजस्थान राज्य में १८ शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय बी. एड. प्रशिक्षण दे रहे हैं। इस पृष्ठ भूमि में देखिये वह सिफारिश कि चूँकि इस महाविद्यालय पर व्यय अधिक होता है अत: इसे बन्द कर देना चाहिए।

अभी यह कॉलिज अपनी शैशवावस्था में ही था कि सन् १९५९ ई. में हम पर एक और संकट आया। राज्य सरकार ने घोषणा की कि इस महाविद्यालय को स्थानान्तरित करके कोटे ले जाया जावेगा। क्योंकि इसके वर्तमान भवन में मैडिकल कॉलेज चलाना था। किन्तु कोटा में कोई उपयुक्त भवन न मिलने के कारण तथा बीकानेर की जनता में असन्तोष देखकर इस निर्णय को स्थगित करना पड़ा। तत्कालीन शिक्षा विभागाध्यक्ष श्री जे. एम. मेहता जो आई. सी. एस. होते हुए भी शिक्षण समस्याओं और उनके समाधान में विशेष रूचि रखते थे इस अनौचित्य के विरोधी थे। वे नहीं चाहते थे कि राजस्थान के उत्तर से एक संस्था को उखाड़कर दक्षिण पूर्व में लेजाकर पुनर्स्थापित किया जावे। जब बीकानेर में कोई उपयुक्त भवन न मिला तो उन्होंने स्थानीय बी. एस. टी. सी. शाला भवन को खाली करवाकर कॉलेज को दे दिया और तब यह संकट टला।

महाविद्यालय का भवन यद्यपि दो वर्ष के लिये मांगा गया था। किन्तु नम्र निवेदनों व आवेदों के उपरान्त भी नकारात्मक उत्तर आता रहा। अन्त में जनवरी सन् १९६४ में जाकर ही हमने दूसरी बार अपने भवन में पाँव रखा। २६ जनवरी को एक यज्ञ के साथ कॉलिज का विधिवत उद्घाटन किया गया। भगवान की कृपा से इस समय से आगे महाविद्यालय की कुण्डली की ग्रह-दशा सुधर गई। अगले ही वर्ष स्फूर्ति के अवतार श्री अनिल बोदिया ने इस महाविद्यालय के सामने की भूमि को महाविद्यालय को दिलाकर छात्रावास बनाने के लिये विपुल धनराशि की स्वकृति भी दे दी और एक विंग और बनवाने की आशा दिलाई। सन् १९६६ में इस छात्रावास का उद्घाटन स्वर्गीय डाक्टर सम्पूर्णानन्द जो तत्कालीन राज्यपाल के कर कमलों से हुआ।

सन् १९७० में एम. एड. कक्षा खोलकर इस महाविद्यालय को एक दर्जा और ऊँचा उठा दिया गया है और उसके साथ ही अब इस महाविद्यालय ने अपनी प्रौढ़ावस्था में पदार्पण किया है।

प्रत्येक संस्था में की गई प्रमापन के लिये अध्ययन व अध्यापन कार्य प्रायः समान सा होता है। अन्तर होता है संस्था के स्वस्थ वातावरण व परिस्थितियों में, पाठ्येतर क्रियाओं व आदर्शों में, संस्था की परम्पराओं में, जिनकी छाप विद्यार्थियों के मानस पटल पर स्थाई रूप से लग जाती है। उनके साथ वार्तालाप मात्र से ही यह परिलक्षित हो जाता है कि अमुक व्यक्ति किस संस्था का स्नातक है। शान्तिनिकेतन, [illegible], वनस्थली, विद्याभवन इत्यादि संस्थाओं की यही विशेषता रही है। प्राचीन काल में गुरुकुलों की भी यही विशेषता होती थी। श्री के. के. चतुर्वेदी की जो सन् १९[illegible] से १९[illegible] तक इस संस्था के प्रधानाचार्य रहे इस विषय में विशेष रुचि थी। उनका मत था कि संस्थाओं का मूल्यांकन परीक्षा-परिणामों की अपेक्षा स्वस्थ परम्पराओं पर अधिक निर्भर करता है।

उनके प्रोत्साहन व स्वयं उनके सक्रिय भाग लेने से महाविद्यालय में सत्र आरम्भ से अन्त तक कोई न कोई विशेष प्रवृत्ति चलती ही रहती थी यथा सेमीनार, वर्कशॉप, [illegible] या अन्य किसी प्रकार की सगोष्ठी आदि। महाविद्यालय का प्रसार सेवा विभाग भी क्षेत्रीय शिक्षकों से सम्पर्क बनाये रखता था। अन्य कार्यक्रमों में भी चतुर्वेदी जी टीम के मुखिया बनते थे। वर्ष में एक शैक्षिक भ्रमण राजस्थान से बाहर का अवश्य हो जाता था। प्रति सप्ताह केम्पफायर, पिकनिक, वाद-विवाद प्रतियोगिता, संगीत प्रतियोगिता आदि में से किसी न किसी विशेष प्रवृत्ति का आयोजन पूर्वनिश्चित होता था। वे वर्ष में एक बार स्काउटिंग का दस दिन का प्रशिक्षण शिविर भी अवश्य आयोजित करवाते थे जिसमें सभी पुरुष व महिला प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। कभी-कभी श्रमदान सप्ताह भी मनाया जाता था।

उनके समय में इस महाविद्यालय के विद्यार्थी विश्वविद्यालय की खेलकूद प्रतियोगिताओं में और अखिल राजस्थान युवक समारोहों में भाग लेने के लिये भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाते रहे तथा उच्च स्थान प्राप्त किये। वर्ष के अन्त में एक सप्ताह तक वार्षिक समारोह मनाने की परम्परा भी उनके कार्यकाल में पड़ी। इस सप्ताह में खेलकूद प्रतियोगिताओं के अतिरिक्त फैंसिडे्रस मैच, वाद विवाद प्रतियोगिताएँ, संगीत गोष्ठियाँ, सम्मेलन, मुशायरे आयोजित किये जाते थे। इन्हीं दिनों स्थानीय संस्थाओं के अध्यापकों की बालीबाल प्रतियोगिता तथा अखिल राजस्थान प्रशिक्षण संस्थाओं की वाद विवाद प्रतियोगिता आयोजित की जाती थी। अन्तिम दो दिनों में पारितोषिक वितरण से पूर्व एक पूरा नाटक खेला जाता था और मनोरंजन कार्यक्रम उपस्थित किया जाता था। बीकानेर की संस्थाएँ इसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा किया करती थीं। रोचकता का मूल्याङ्कन तो इसी से किया जा सकता है कि प्रत्येक वर्ष स्थानीय

महाविद्यालय तथा संस्थाओं से एक न एक मनोरंजन कार्यक्रम की मांग आती ही रहती थी। इनके अतिरिक्त दीपावली, रक्षाबन्धन आदि पर्व भी सोत्साह मनाये जाते थे।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस संस्था में पुरुष और महिला प्रशिक्षणार्थियों का भाईचारे का सा उत्तम वातावरण बहुत कम संस्थाओं में मिलेगा। पारस्परिक सहयोग और सद्भावना यहां के वातावरण की विशेषता रही है। भाई-बहनों की भांति इकट्ठे बैठकर खाना व खेलना यहा के स्नातकों के स्मृति पटल पर सदैव अंकित रहेगा। कौन ऐसे वातावरण पर गौरवान्वित अनुभव नही करेगा कि जिसमें हमसे बूढ़े भी अपने को जवान ही समझते रहें। बुढ़ापे का आभास तो अब सेवा-निवृत्ति ने कराया है। श्री पालीवाल तो अपने को बूढ़ा कहते हुए अब भी सकुचाते हैं।

यदि मैं उन आचार्यों का भी थोड़ा परिचय दे दूं जो इससे भी पहले के प्रधान रहे हैं तो अनुपयुक्त न होगा। श्री सी. पी. शर्मा १६४६ से १६४६ तक यहाँ प्रधानाचार्य रहे। उनकी मान्यता थी कि वे तीन वर्ष से अधिक किसी संस्था में नहीं रहें और इतनी ही अवधि के पश्चात उन्हे यह संस्था भी छोड़नी पड़ी। राजस्थान के संगठन के पश्चात् श्री एस एन. श्रीवास्तव को अस्थाई रूप से आचार्य बनाया गया। कुछ अवधि के लिये श्री सी. बी. शाह भी यहाँ रहे। आचार्य श्री कमला कान्त चतुर्वेदी १६५२ में पधारे और १६५६ के दिसम्बर तक उन्होने महाविद्यालय में प्रधानाचार्य का पद सुशोभित किया। उन्होने अनेक नई और स्वस्थ परम्पराएँ डालने का गौरव प्राप्त किया। जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। खेलो मे वे स्वयं सक्रिय भाग लेने के लिये अपने हाफ पेन्ट व कपड़े के जूते महाविद्यालय मे ही रखा करते थे और दैहिक कार्यक्रम समाप्त होने पर वे मैदान में आ जाते थे और सबके साथ घुलमिल जाते थे।

सन् १६६० के प्रारम्भ मे ही श्री बालगोविन्दजी तिवाड़ी प्रधानाचार्य के रूप मे पधारे। उन्होने प्रार्थना-प्रवचन की नई परम्परा डाली। वे कार्यक्रम के प्रत्येक अंश को व्यावहारिक दृष्टि से देखते थे और आध्यात्मिक रूप देते थे। उनके काल मे इस महाविद्यालय ने काफी ख्याति प्राप्त की। क्रियात्मक अनुसंधान के प्रणेता श्री स्टीफेन कोरी द्वारा यहा एक्शन रिसर्च का प्रशिक्षण दिया गया। अनेक शिक्षकों ने क्रियात्मक अनुसंधान के महत्व को समझकर तदनुरूप योजना बनाकर कार्य करने की प्रेरणा ली। सन् १६६०-६१ व १६६१-६२ में उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालयो के प्रधानाध्यापकों को प्रशिक्षण दिया गया। पुस्तकालय लिपिकों का भी प्रशिक्षण इस महाविद्यालय द्वारा दिया जाता था। प्रशिक्षण महाविद्यालय मे केन्द्र की ओर से प्रसार सेवा विभाग की स्थापना सन् १६६२ में हो चुकी थी। इस विभाग द्वारा भी शिक्षकों के सेवारत प्रशिक्षण एवं अभिनवन प्रशिक्षण के नई कार्यक्रम उस समय रखे गये। प्रशिक्षण कार्य मे इस समय प्रौढ़ता आने लगी थी। यह वह समय था जब महाविद्यालय अपने मुख्य भवन मे न चलकर जमुसर गेट के पास वाले बी. एस. टी. सी. विद्यालय के भवन मे चल

रहा था। यह भवन स्वाभाविक ही कॉलेज की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त नहीं था। होस्टल के लिये जो भवन निर्धारित था वह भी वहाँ से कोई एक मील दूर पड़ता था। फिर भी तिवारी जी के व्यक्तित्व के प्रभाव से अभावग्रस्त स्थितियाँ भी मन पर इतनी हावी नहीं हो पाती थी।

सन् १९६४-६५ के सत्र में श्री तिवाड़ीजी के राजस्थान राज्य शिक्षा संस्थान के निदेशक पद पर पदोन्नत होकर चले जाने पर श्री माधोरामजी पालीवाल ने उनका स्थान ग्रहण किया। उनके प्रधानाचार्य होते ही उनके समय की प्रथम उपलब्धि के रूप में जिस बात का उल्लेख किया जा सकता है वह है कॉलेज का पुनः अपने मूल भवन (बीकानेर स्टेडियम के सामने) में आ जाना। स्वयं पालीवाल जी को इस उपलब्धि पर स्वभावतः बहुत सन्तोष और प्रसन्नता थी। दूसरी उपलब्धि थी महाविद्यालय के लिये स्वयं का छात्रावास भवन का निर्माण। केन्द्रीय एवं राज्य सरकार दोनों के अनुदान से एक सुन्दर छात्रावास का भवन महाविद्यालय भवन के निकट ही बन गया। उनके काल में महाविद्यालय के परिणाम भी अच्छे रहे। मेरी ही तरह श्री पालीवाल का भी इस संस्था से बहुत लम्बा सम्बन्ध रहा था और यह उनके तथा अन्य सबके लिये बड़ी प्रसन्नता की बात रही कि वे अपनी इस प्रिय संस्था के प्रधानाचार्य के रूप में भी लगभग सात वर्ष तक सेवा कर राजकीय सेवा से मुक्त हुए। सन् १९६४ में वे प्रधानाचार्य बने और सन् १९७० के जून में राज्य सेवा से निवृत्त हुए।

जुलाई १९७० से यह महाविद्यालय अधिस्नातक महाविद्यालय के रूप में उन्नत हुआ और बी. एड. के साथ साथ एम. एड. कक्षा भी यहाँ आरम्भ हो गई।

प्रथम वर्ष सन् १९७० में यहाँ ग्यारह अध्यापकों ने एम. एड में प्रवेश लिया। इसी वर्ष श्री विपिनविहारी वाजपेयी जो पहले राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय अजमेर में प्रधानाचार्य थे यहाँ प्रधानाचार्य के रूप में पदोन्नत होकर आये। इस वर्ष एम. एड. और बी. एड. दोनों कक्षाओं का परिणाम शत प्रतिशत रहा। द्वितीय वर्ष अर्थात् १९७२ में १४५ छात्राध्यापकों ने बी एड. में और १३ छात्राध्यापकों ने एम. एड. में प्रवेश लिया। महाविद्यालय के कार्य में अब और भी तीव्रता एवं विविधता आई है। वाजपेयीजी के निर्देशन में महाविद्यालय में अनेक नवीन गति विधियाँ प्रारम्भ हुई हैं और कई नवीन परम्पराओं का श्रीगणेश हुआ। इनका वर्णन अन्यत्र दिया गया है।

इस संस्था के इतिहास के साथ जिन मेरे साथियों के जीवन का इतिहास जुड़ा हुआ है। उनके बारे में भी मैं दो शब्द कहना उचित समझता हूँ। मेरा सम्बन्ध तो इस इस संस्था के साथ सन् १९४१ से ही रहा और सन् १९६७ ई. में सेवा निवृत्ति से ही अलग हुआ है यद्यपि अब भी मैं यदा-कदा इसका चक्कर लगा ही आता हूँ। श्री पालीवाल १९४६ में यहाँ पधारे और वे भी यहीं से सेवा निवृत्त हुए। हम दोनों के लिये यह

प्रसिद्ध था कि इनकी कब्रें महाविद्यालय के मुख्य द्वार के दोनों ओर बनेंगी और मरने पर भी ये कॉलेज को आंच नहीं आने देंगे। वास्तव में श्री मानीराम (कॉलेज का सबसे पुराना चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी) के सिवाय और किसी ने इतनी लम्बी अवधि तक कॉलेज की सेवा नहीं की। इस महाविद्यालय के अनेक प्राध्यापक सेवा निवृत होकर आज भी निजी सस्थाओं में कार्यरत हैं उनमे उल्लेखनीय है: श्री मूलचन्द शर्मा, श्री हरिगिरि गोस्वामी, श्री कर्णदेव शर्मा तथा श्री अमीरचन्द जैन। इनके साथ स्वर्गीय श्री हुकिमसिंह उद्योग अनुदेशक भी स्मरण हो आते हैं जिनकी नियुक्ति सन् १९४६ मे हुई और गत वर्ष ही सेवा निवृत्त हुए थे। उनके सम्बन्ध मे प्रायः यह कहा जाता था कि यदि वे कहीं अधिक पढ़े-लिखे होते तो मंत्री अवश्य बन जाते। दुःख है कि पिछले वर्ष सेवा निवृत्ति के एक वर्ष पश्चात् दुर्घटना ग्रस्त हो जाने के कारण उनका निधन हो गया। दूसरे एक और उद्योगअनुदेशक श्री राम निवास तोट भी सेवा करते हुए असमय पर ही सन् १९७० में स्वर्ग सिधार गये। भगवान उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

यह शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय निरन्तर प्रगति कर रहा है। ईश्वर करे वह इसी प्रकार आगे भी सतत प्रगति करता रहे। अन्त में शैक्षिक प्रशिक्षण-कार्यक्रमों के महत्व के बारे मे श्री सयैदन की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करते हुए मैं अपना यह लेख समाप्त करना चाहता हूँ।

> "There is one branch of education where I think undue economy to be foolish & nigardliness a crime, it is in the matter of training teachers ... ... If the salt that is to teach has lost its savour wherewith will it be salted.

क्या उनके इस कथन पर योग्यतया विचार कर सकेंगे?

●●

विश्वविद्यालय में
प्रथम
आने वाली प्रतिभाएं

श्री पुखराज व्यास
(1958 59)

श्री रामदेव आचार्य
(1963-64)

श्रीमती विद्योत्तमा वर्मा
(1965-66)

उपलब्धियाँ

निहालसिंह शर्मा

शैक्षिक

सन् १९५६ में स्नातक-प्रशिक्षण महाविद्यालय के रूप में प्रोन्नत होने के बाद से महाविद्यालय की विभिन्न उपलब्धियाँ इस प्रकार रहीं :—

प्रशिक्षणार्थियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि

(क) बी० एड०

वर्ष	५६	५७	५८	५९	६०	६१	६२	६३
छात्र संख्या	९९	९७	९८	११४	१२६	१२१	१२०	११७

वर्ष	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०	७१
छात्र संख्या	१२१	१३८	१४१	१३२	१४८	१४२	१४२	१४०

विश्वविद्यालयीय परीक्षाओं में गुणात्मक उपलब्धियाँ :

विगत १५ वर्षों में महाविद्यालय द्वारा अर्जित गुणात्मक सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियाँ इस प्रकार रही हैं :—

सन्	प्रशिक्षणार्थी का नाम	सैद्धान्तिक परीक्षा	प्रायोगिक परीक्षा	वि० वि० में स्थान
५७	श्री खेमाराम शर्मा	द्वितीय	प्रथम	
५८	श्री बाबूलाल पुरोहित	द्वितीय	प्रथम	
५९	श्री पुखराज व्यास	द्वितीय	प्रथम	सर्व प्रथम
६०	श्री मनोहर लाल सोमानी	द्वितीय	प्रथम	
६१	श्री गोपीकृष्ण पुरोहित	द्वितीय	प्रथम	
६२	श्री सोहनलाल शर्मा	द्वितीय	प्रथम	
६३	श्री सीताराम खत्री	द्वितीय	प्रथम	
६४	श्री रामदेव आचार्य	द्वितीय	प्रथम	सर्व प्रथम
६५	श्री केशवलाल गुप्ता	द्वितीय	प्रथम	
६६	श्रीमती विद्योत्तमा वर्मा	प्रथम	प्रथम	सर्व प्रथम
६७	श्री बजरंग लाल	द्वितीय	प्रथम	
६८	श्री सीताराम सुथार	प्रथम	प्रथम	सर्व प्रथम
६९	कुमारी परमजीत मरवाह	प्रथम	प्रथम	
७०	श्री राधेश्याम गौड	प्रथम	द्वितीय	
७१	श्रीमती सुषमा जोहरी	द्वितीय	प्रथम	

जब कि सैद्धान्तिक विषय-परीक्षाओं में सर्वोत्कृष्ट प्रशिक्षार्थियों को केवल ४ बार प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई है, उन्हें प्रायोगिक परीक्षाओं में १४ बार प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई है। १५ वर्षों में महाविद्यालय ने चार बार विश्वविद्यालयी स्तर पर सर्वोत्कृष्ट परिणाम प्रस्तुत किए है। अपने उन प्रशिक्षार्थियों पर महाविद्यालय को गर्व है।

एम. एड प्रशिक्षण-चर्या :

महाविद्यालय को अपनी गौरवपूर्ण परम्परा में सन् १९७० में एम एड प्रशिक्षण-चर्या सम्मिलित करने का सौभाग्य मिला। तदर्थ निर्धारित १५ स्थानों में से ११ प्रथम वर्ष में ही भर गए। परीक्षा-परिणाम शत-प्रतिशत रहा तथा विश्वविद्यालय में प्रथम दस स्थानों में से एक स्थान इस महाविद्यालय के प्रशिक्षणार्थी श्री अमरजीतसिंह को प्राप्त हुआ। एम एड पाठ्यचर्या के दूसरे वर्ष में पूरे १५ स्थान भर चुके थे जिनमें से अब १३ विश्वविद्यालयीय परीक्षा में सम्मिलित हो रहे है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

भौतिक :

मुख्य भवन में परिवर्धन-परिवर्तन :

महाविद्यालय का मुख्य भवन मूलतः किसी अन्य प्रयोजन के लिए निर्मित हुआ था। प्रशिक्षण महाविद्यालय की अपेक्षाओं के अनुरूप उसमें यथावश्यक परिवर्तन करने की अपेक्षाएँ अभी भी बनी हुई हैं, तथापि पिछले दो वर्षों में कुछ बुनियादी आवश्यकताएँ, जैसे :

- विज्ञान की प्रयोगशाला,
- सवायवार अध्यापन-कक्ष,
- सगोष्ठी कक्ष,
- व्याख्यान-कक्ष,
- कार्यानुभव कक्ष,
- महिला कक्ष,
- पेय-जल व्यवस्था,
- ध्वस्त नल-व्यवस्था का पुनर्नवीकरण,
- पुस्तकालय की पुनर्व्यवस्था आदि आदि काफी कुछ पूरी की जा चुकी हैं।

भवन की सीमा, सुरक्षा, वाटिका, मार्ग आदि से सम्बन्धित कार्यक्रम अभी योजनाधीन हैं। शिक्षा-अधिस्नातक पाठ्यचर्या की अपेक्षाओं से भवन-विस्तार, अनुसंधान कक्ष, प्रयोगशाला, आदि को लेकर भी कुछ योजनाएँ विचाराधीन हैं।

वर्तमान स्वरूप एवं प्रवृत्तियां

पुरुषोत्तम लाल तिवाड़ी

भौतिक स्वरूप:

महाविद्यालय का मुख्य राजकीय दुमंजिला भवन दो मुख्य मार्गों के बीच स्थित है। इसमें दो व्याख्यान कक्ष, एक पुस्तकालय हॉल तथा विषयाध्यापन के लिए १२ कक्ष इस समय विद्यमान हैं। कार्यालय के लिए एक कक्ष, शिक्षा प्रसार विभाग के लिए एक कक्ष तथा एक सगोष्ठी कक्ष भी है। एक प्रयोगशाला कक्ष तथा ३ कार्यानुभव कक्ष एवं एक चित्रकला कक्ष है। एक महिला कक्ष तथा एक पुरुष कक्ष प्रशिक्षणार्थियों के विश्राम के लिए है। एक कक्ष अतिथियों के लिए भी सुरक्षित है।

मुख्य भवन में ही शिक्षा-विभाग की प्रकाशन शाखा भी स्थित है।

पुरुष छात्रावास भवन, महाविद्यालय के मुख्य भवन के पश्चिम में मुख्य सड़क की दूसरी ओर स्थित है। उसमें ६० प्रशिक्षार्थियों के आवास की व्यवस्था है। एक सम्मेलन कक्ष तथा भोजनालय की व्यवस्था भी उसमें है। छात्रावास की सीमा में फुटबाल तथा हॉकी के मैदान भी हैं। वॉलीबाल के मैदान महाविद्यालय के मुख्य भवन

मे स्थित हैं। टेबल टेनिस तथा अन्य छोटे-मोटे खेलों की व्यवस्था मुख्य भवन के एक कक्ष मे ही अस्थायी रूप से की गई है।

प्रवृत्तियाँ :

पिछले वर्षों मे महाविद्यालय ने कुछ स्वस्थ परम्पराएँ विकसित की हैं जिनका महत्व इस दृष्टि से भी है कि वे विद्यालयीय प्रथाओं तथा उनकी निरन्तर प्रगतिमान चर्याओं के आत्मीकरण, संचालन तथा संगठन की दृष्टि से प्रशिक्षणार्थी अध्यापक को उनके प्रति स्वस्थ भावना तथा क्रियात्मक रुझान की दिशा दे पाने मे सफल हुई हैं।

प्रार्थना-सभा एवं प्रवचन कार्यक्रम :

विद्यालयों मे सद्वृत्तिमूलक वातावरण बनाने, सम्मिलितया, समग्रतया एकता की अनुभूति कर पाने, किसी न किसी रूप मे अन्तर्मन मे भाँकने-गुनने की स्वय प्रेरणा दे पाने के लिए इस कार्यक्रम की व्यावहारिक उपयोगिता निर्विवाद है। महाविद्यालय क्रियात्मक रूप मे इस कार्यक्रम की उपयोगिता तथा महत्ता प्रशिक्षणार्थियों के अनुभव मे लाने की चेष्टा करता है। प्रार्थनाओं के क्रम मे वाणी-वन्दना, देश-वन्दना, प्रभात-गीत सान्ध्य-गीत तथा राष्ट्र गीत वर्तमानत नियोजित हैं। महाविद्यालय केवल वाचिक प्रार्थना कर लेने मे विश्वास नही करता बल्कि उसे भावना और अनुभूति या प्रतीति के स्तर तक सम्प्रेषणीय बनाने की चेष्टा भी उद्दिष्ट मानता है। इस प्रयोजन से सम्बद्ध प्रार्थना-गीत उसमे निहित भाव तथा आशय के स्पष्टीकरण के साथ-साथ प्रशिक्षणार्थियों मे पहले से प्रसारित किया जाता है, जैसे :

प्रार्थना

वर दे, वीणा-वादिनि, वर दे।
प्रिय स्वतन्त्र रव, अमृत मन्त्र नव।।
भारत मे भर दे। वीणा ⋯ ⋯
नव गति, नव लय, ताल, छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को।
नव पर, नव स्वर दे। वीणा ⋯⋯⋯
काट अन्ध-उर के बन्धन-स्तर,
बहा जननि ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुष, भेद, तम हर, प्रकाश भर।
जगमग जग कर दे। वीणा⋯⋯⋯

१–वीणा-वादिनी : स्वर (वाणी) की अधिष्ठातृ (शक्ति) [illegible]
२–स्वतन्त्र रव : मानसिक व मौलिक रूप से

३-अमृत मंत्र नव — जीवन के आनन्द के सजीव मंत्र (स्वर) जो हमें प्रदान करें और स्वयं भी अमर हो जाएं ।

४-नव भारत — स्वतंत्र जन-शक्ति के रूप में नवोदित भारत ।

५-नव गति लय छंद नव — विकास की नयी-नयी दिशाओं में परस्पर सामंजस्य, तालमेल तथा तारतम्य के साथ गतिशीलता ।

६-नव जलद मन्द्र रव — नव-जागरण का घोष जिसमें गर्जना, सजीवता तथा स्निग्धता समाहित हो ।

७-नव नभ — नवोदित भारत की नव नव सृजनशील दिशाएँ । प्रगति का पथ ।

८-नव विहग वृन्द — नई पीढ़ी के लोग, उदीयमान नागरिक ।

९-नव पर — नयी शक्तियाँ, नये विचार ।

१०-नव स्वर — नये जीवन मूल्य ।

११-अंध-उर-स्तर — अन्धविश्वासों, जड़ताओं और परम्पराओं से ग्रस्त मानव-मन की विवशताएँ ।

१२-ज्योतिर्मय निर्झर — ज्ञान-विज्ञान की नव-चेतना का प्रवाह ।

१३-कलुष, भेद, तम : अपकर्म-वृत्ति, भेद-भाव व अज्ञान रूपी अन्धकार ।

१४-प्रकाश : प्रगति और ज्ञान की चेतना ।

हे स्वर-मातृका शक्ति, नवोदित भारत को मानसिक व भौतिक स्वतन्त्रता तथा अभ्युदय एव अभ्युत्थान के नये नये मत्रो से मुखरित एव सत्योद्भासित कर दे ।

लोक-शक्ति-सम्पन्न नवोदित भारत के उदीयमान नागरिको में परस्पर सामंजस्य, ताल-मेल तथा तारतम्य पूर्वक विकास की नयी-नयी दिशाओ मे गतिशील हो सकने योग्य जीवन की नयी गीत-लहरी व नव-जागरण के मगलकारी सृजन-पथ पर अग्रसर हो सकने योग्य नयी वैचारिक शक्ति भर दे ।

अन्ध-विश्वास, भेद भाव व अपकर्म-वृत्ति, अज्ञान व परम्पराओ से ग्रस्त मानव-मन को उसकी विवशताओ से मुक्त करके, उसमे ज्ञान-विज्ञान की नव-चेतनधारा प्रवाहित कर दे और अभ्युत्थानलक्ष्यी भारत के जन-मन को अभेद सात्विकता और निर्मल विवेक की किरण से आलोकित कर दे ।

मानव के ज्ञान विज्ञान एव कलागत सस्कार तथा उसकी सर्वक्षेत्रीय श्रेष्ठतम सिद्धि, वृद्धि और समृद्धि की शक्ति प्रेरणा की प्रतीक रूप हे वीणापाणि, भारत को मानसिक व भौतिक स्वतत्रता तथा अभ्युदय एव अभ्युत्थान के नये-नये मगलमय मत्रो से मुखरित एव सत्योद्भासित कर दे ।

प्रार्थना के वाचिक उद्घोष के साथ-साथ उसकी भावनात्मक प्रतिध्वनि का अधिक महत्व होता है । अवसरानुकूल भिन्न भिन्न प्रार्थनाओ का प्रशिक्षण प्रशिक्षणार्थी अध्यापको को देने के पीछे दृष्टि यह रहती है कि वे अपने विद्यालयो मे जा कर इसी

प्रकार अवसरानुकूल वन्दनाओं का चयन तथा संचालन-संयोजन उपयुक्त भावना के साथ प्रयोजन कर सकें।

प्रार्थना के अनुक्रम में प्रतिदिन एक उत्प्रेरक तथा विचारनिष्ठ या भावनानिष्ठ प्रवचन' का कार्यक्रम रखा जाता है। प्रवचन प्राध्यापक, अनुदेशक तथा प्रशिक्षणार्थी अध्यापक एक पूर्व नियोजित कार्यक्रम के अनुसार करते हैं। चरित्र, नवचिन्तन, सूक्ति, उक्ति, संस्मरण, अन्तर्ग्रन्थि, एकता, तादात्म्य, निष्ठा, आस्था आदि वे पक्ष हैं जिन्हें केन्द्र में रखकर विविध शैलियों में प्रवचनों का कार्यक्रम चलता है।

सत्रान्त-व्यापी अध्यापनाभ्यास-कार्यक्रम :

विश्व विद्यालयीय पाठ्यक्रम के अनुसार प्रशिक्षणार्थी-अध्यापक को अपने दो अध्याप्य विषयों में न्यूनतम ४० अध्यापन-पाठ देने होते हैं। उन पाठों को पूरा करने की कई पद्धतियाँ या रूढ़ियाँ स्थानगत अपेक्षाओंनुरूप प्रचलित है। इस महाविद्यालय की मान्यता है कि कक्षाध्यापन कार्यक्रम सत्र के अधिकाधिक समय तक चलता रहे ताकि प्रशिक्षणार्थी अध्यापक प्राय सत्र-भर शालायी जीवन तथा उसकी गतिविधियों में सक्रियता पूर्वक योगदान करता रह सके। इससे एक ओर जहाँ अध्यापनाभ्यास के लिए चयित विद्यालय के प्रति उसका लगाव बढ़ सकता है वहाँ उस विद्यालय के छात्रों तथा अध्यापकों से भी उसका हेलमेल अवश्य बढ़ता है।

अपनी एक स्वस्थ परम्परा के रूप में इस महाविद्यालय ने अध्यापनाभ्यास के कार्यक्रम को प्राय फरवरी के अन्त तक चलाते रहने की प्रथा पर प्रयोग किए हैं। इससे अध्यापनाभ्यास का कार्यक्रम क्रियात्मक तथा चिन्तनात्मक दोनों स्तरों पर वर्ष पर्यन्त चलता रहता है, अध्यापक, प्राध्यापक तथा अन्य सभी सम्बद्ध अभिकरण विद्यालयों के सत्र-भर के कार्यक्रमों से सम्बन्धित रहते हैं और स्वयं प्रशिक्षणार्थी—अध्यापक 'पाठ की तैयारी' के सतापदायक मानसिक तनाव से मुक्ति का अनुभव करते हैं। विद्यालय के अध्यापकों तथा प्रशिक्षणार्थी अध्यापकों के बीच टीम-भावना तथा उनको परस्पर अनुपूरक परिपूरक बना पाने का लक्ष्य भी इससे पूरा होता है।

इस प्रकार की योजना से प्रशिक्षणार्थियों का एक अनुभाग प्रतिदिन अध्यापनाभ्यास के समय मुक्त रहकर महाविद्यालय में अन्य प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है। वे प्रशिक्षणार्थी उस समय में अपने अगले दिन के पाठ से सम्बन्धित शिक्षण-सामग्री की व्यवस्था आदि भी करते रहते हैं। निर्विवाद इस सत्रान्त-व्यापी अध्यापनाभ्यास कार्यक्रम से प्रशिक्षणार्थियों के अध्यापनाभ्यास पाठों में उच्चस्तरीयता, सुप्रभवनीयता सुगति, नवीनता तथा मौलिक सृजनशीलता के तत्वों का विकास प्रतिफलित होता देखा गया है।

प्रशिक्षणार्थी को अपने अध्यापन-कार्यक्रम की इकाई योजना, पाठ-योजना तथा पाठ सम्बन्धी पक्षों पर सोचने-विचारने, उसे सवारने तथा अभीप्सतया निर्देशन प्राप्त करने का पर्याप्त समय मिल जाता है।

विद्यालयों में इनके द्वारा लिए गए [illegible], [illegible] गुणात्मक तथा अन्य किसी स्तर पर [illegible] की [illegible] सुविधा रहती है।

प्राध्यापकों को भी [illegible] निर्देशन कर पाने में सुविधा रहती है।

कार्यानुभव तथा व्यावसायिक दक्षतावर्धी कार्यक्रम :

सेवाकालीन अध्यापक-प्रशिक्षण-कार्यक्रम की सतत उन्नति के [illegible] तथा व्यावसायिक दक्षतावर्धी कार्यक्रम की आयोजना भी इस महाविद्यालय की तथा प्रगतिशील प्रवृत्ति है। विद्यालयों में अध्यापक के दायित्वों की सीमा [illegible] गयी है। अब यह मात्र 'विषय-वस्तु ज्ञान का सूचना-केन्द्र' नहीं माना जा [illegible] उसके लिए नवीनतम ज्ञान की प्राप्ति, व्यक्तिगत कौशल अर्जन की चेष्टा, [illegible] तथा अधिकाधिक क्षेत्रों में गति-मति बनाये रखने की भी आवश्यकता है। [illegible] की मानसिक सजगता जाग्रत करने के सम्बन्ध में, विद्यालयीय दायित्वों के [illegible] अधिकाधिक सक्षम बनाने के प्रयोजन से तथा उनमें स्व-प्रतिष्ठा तथा [illegible] विश्वास जगा पाने की दृष्टि से उक्त कार्यक्रम का आयोजन महाविद्यालय में [illegible] जाता है।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत इस समय निम्नलिखित पक्षों पर विशेष प्रशि[illegible] आयोजन किए जाते हैं :—

न्यूनतम भाषायी अभियोग्यता-विकास कार्यक्रम :

प्रत्येक अध्यापक मूलतः माध्यम-भाषा के अधिकार तथा स्वरूप-निर्धा[illegible] अप्रत्यक्षतः या प्रत्यक्षतः प्रभावकारी होता है। आवश्यक है कि उसे स्वयं भी म[illegible] भाषागत अपने स्तर तथा स्वरूप पर सम्यक् अधिकार रहे। महाविद्यालय प्र[illegible] एक कालांश इस प्रकार के निर्देशनात्मक, उपचारात्मक तथा निदानात्मक कार्य[illegible] लिए उपलब्ध कराता है। इस प्रसंग में एक प्रयोगाधीन पाठ्यक्रम भी विकसित गया है जिसे राज्य-व्यापी बनाने का संकल्प भी वर्तमान है। इस कार्यक्रम को म[illegible] प्रयोगशाला कार्यक्रम के रूप में विकसित करने की चेष्टा भी है।

कार्यानुभव प्रशिक्षण-कार्यक्रम :

विद्यालयों में कार्यानुभव की प्रवृत्ति यथेष्ट प्रसिद्धि पा चुकी है। प्रत्येक अध्याप[illegible] में इस प्रसंग में किसी न किसी कार्य के प्रति विशेष रुझान होना आवश्यक है। महा[illegible] विद्यालय ने प्रायोगिक रूप से गत २ वर्षों से ६ कार्यों का अनुभवनिष्ठ प्रशिक्षण दे[illegible] की व्यवस्था की है। वे हैं—चॉक स्टिक, मेन बाम, फाउण्टेन पेन इंक, दन्त मञ्जन, [illegible] की धुलाई व साबुन का निर्माण।

दृश्य-श्रव्य शैक्षिक-सामग्री सम्बन्धी प्रशिक्षण :

अपने कक्षाध्यापन में प्रत्येक विषय के अध्यापक को अपनी सूझ-बूझ, आवश्यकता तथा/अथवा प्रथा के अनुकूल श्याम पट्ट पर या अन्य माध्यम से दृश्य-श्रव्य उपकरणों का उपयोग करना ही होता है। इस समय महाविद्यालय प्रशिक्षणार्थी अध्यापकों में इतनी न्यूनतम रेखांकन योग्यता विकसित करने का लक्ष्य लेकर इसके लिए एक कालांश प्रतिदिन उपलब्ध कराता है कि दुष्कर से दुष्कर स्थितियों में भी अध्यापक दृश्य-श्रव्य उपकरणों के अभाव में अपने को असहाय न अनुभव करने पाएं बल्कि अपनी रेखांकन-योग्यता का उपयोग करते हुए अधिकाधिक प्रभावी शिक्षण कर सकें। इस सम्बन्ध में एक प्रयोगनिष्ठ पाठ्यक्रम का विकास भी किया जा रहा है।

वाचनगत अभिरुचि एवं योग्यता सम्बन्धी कार्यक्रम :

जिसे भावी पीढ़ी को पढ़ाने का दायित्व वहन करना है, उसे स्वयं भी पढ़ते रहने, नवीन तथ्यों से परिचित होते रहने और विचारों और कर्मों में गतिशील बने रहने की आवश्यकता है। उनकी पठनगत अभिरुचियों तथा वाचनगत योग्यता को संवर्धित करने के लक्ष्य से प्रति गुरुवार दिवस एक कालांश प्रशिक्षणार्थियों को उपलब्ध कराया जाता है जबकि वे महाविद्यालय में उपलब्ध शैक्षिक तथा साहित्यिक पत्र पत्रिकाओं का अवलोकन कर सकते हैं, अपनी मनपसन्द सामग्री चुन सकते हैं और द्रुतगति से उसका संकेत लिख ले सकते हैं।

पुस्तकालय एवं वाचनालय संगठन प्रशिक्षण :

विद्यालयों की धमनी होते हैं उनके पुस्तकालय तथा वाचनालय। छात्रों के पठन निर्देशन तथा समुदाय के शिक्षण में अध्यापक एक प्रभावकारी सन्दर्भ व्यक्ति बन सकें, इस लक्ष्य से उन्हें पुस्तकालय व्यवस्था, उसके रख रखाव, संगठन, संचालन आदि से सम्बन्धित बुनियादी बातों का प्रशिक्षण इस कार्यक्रम में दिया जाता है। इस प्रसंग में एक न्यूनतम पाठ्यक्रम भी प्रायोगिक रूप से विकसित किया जा रहा है।

स्वास्थ्य-प्रशिक्षण-कार्यक्रम

यों प्रशिक्षणार्थियों के स्वयं के स्वास्थ्य के रख-रखाव तथा उपचार की दृष्टि से नियमित खेलकूद तथा शारीरिक व्यायाम का प्रावधान महाविद्यालय करता ही है किन्तु विद्यालयों में जाकर वे छात्रों के स्वास्थ्य की चिन्ता कर पाएं उन्हें सम्यक्-रूप से प्रवृत्त व निर्देशित कर सकें इस दृष्टि से प्रतिदिन एक कालांश [illegible] कार्यक्रम के लिए उपलब्ध कराया जाता है। इस कार्यक्रम में स्वास्थ्य सम्बन्धी [illegible] ज्ञान, विविध रोगों के फैलने की प्रवृत्ति, उनके उन्मूलन के उपाय, शिविर सेवा के नियम, [illegible] आदि का ज्ञान व अभ्यास कराया जाता है ताकि वे अपने विद्यालयों के बाहर सामुदायिक जीवन प्रवृत्तियों में भाग लेने में अपने को सक्षम और उपयोगी अनुभव कर सकें।

विषय : ट्युटोरिअल वर्ग तथा उसके निर्धारित कार्यक्रम (१९७१-७२)

१—ट्युटोरिअल कार्य एवं सत्र के लिए चयनित विशेष 'प्रायोजना विषय' एवं वर्ष में निर्धारित समय :

प्रति बुधवार को तीसरा और चौथा पीरियड कालेज के टाइमटेबिल में "ट्युटोरिअल-कार्य" के लिए नियत है। सामान्य निर्धारित ट्युटोरिअल-कार्य के अतिरिक्त इस समय का उपयोग प्रत्येक "ट्युटोरिअल-वर्ग" एतदर्थ निर्धारित कार्यक्रमानुसार गत सत्र की भाँति इस सत्र में भी महाविद्यालय द्वारा सत्र के लिए चयनित विशिष्ट प्रकल्प-प्रायोजना सम्बन्धी अध्ययन-अनुशीलन तथा अन्य सम्बद्ध कार्यों के लिए भी करेंगे। जैसा कि पहले घोषित किया जा चुका है, यह महाविद्यालय का "रजत-जयन्ति" वर्ष है और इस सन्दर्भ में इस सत्र के लिए विशिष्टतया चयनित अध्ययन-प्रायोजना का जो विषय रखा गया है वह है—

"शिक्षक प्रशिक्षण के विविध आयाम और तदन्तर्गत हमारी चतुर्मुखी (अद्यतन) प्रगति नई अपेक्षाएँ व विकास की भावी सम्भावनाएँ"।

२—ट्युटोरिअल-वर्ग :

महाविद्यालय का समस्त छात्र-समुदाय एतदर्थ १२ ट्युटोरिअल वर्गों में विभाजित होगा, तथा प्रत्येक ट्युटोरिअल-वर्ग किसी एक-एक प्राध्यापक से सम्बद्ध होगा। प्रत्येक

८—ट्युटोरियल-वर्गों के उपयोग संख्या ४ के सम्बद्ध कार्य एवं आयोजन :

इस सत्र की विशेष प्रायोजना सम्बन्धी योजना अलग से प्रसारणीय अधिकाधिक का ही नहीं, वरन् इन कार्यों एव आयोजनो के योग्यतया क्रियान्वयन मे वर्ग के हर सदस्य का सक्रिय योगदान हमारा अभीष्ट है।

[टिप्पणी ८—विचार-विमर्शार्थ निर्धारित विषयो मे से प्रत्येक पर केवल एक-एक ही नही वरन् दो-दो तीन-तीन छात्र-छात्राओ को समुचित तैयारी पूर्वक अपना निबन्ध प्रस्तुत करने के लिए कहा जायगा।]

विशेष शैक्षिक प्रायोजनानिष्ठ कार्यक्रम :

ट्यूटोरियल वर्गों से ही सम्बद्ध करके सत्र मे एक शैक्षिक प्रायोजना पर लिखित कार्य या प्रवृत्तिकार्य के रूप मे (शैक्षिक उपकरणो की निर्मितिपूर्वक) एक प्रायोजनानिष्ठ प्रशिक्षण कार्यक्रम नियोजित किया जाता है। उसे ही महाविद्यालय के सत्रान्त समारोह के रूप मे परिणति देने की चेष्टा रहती है। गत सत्र १९७०-७१ मे 'अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा और शैक्षिक सद्भाव' को उक्त प्रायोजना कार्य के रूप मे चुना गया था, उसी प्रसग मे आयोजित सत्रान्त समारोह भी उसी सीमा भावना तथा कार्यक्रमो से सयुक्त रहा था।

इस सत्र मे 'शैक्षिक जगत के विगत २५ वर्ष' को 'रजत जयन्ती समारोह' के साथ सयुक्त करके प्रायोजना कार्य का स्वरूप दिया गया है।

इस प्रकार के ट्यूटोरियल कार्यों मे जहाँ प्रशिक्षणाधीन अध्यापको का मानसिक विकास अभीष्ट दिशाओ मे हो पाता है वहाँ इस नवीनतर पद्धति मे उन्हे क्रियात्मक प्रशिक्षण भी मिलता है जो उन्हे विद्यालयो मे करणीय अनुसन्धानो एव प्रयोगो के लिए अनुकूल प्रेरणा दे पाता है।

अधिस्नातक स्तरीय संगोष्ठी कार्यक्रम :

जो और जितना समय स्नातक प्रशिक्षणार्थियो को ट्यूटोरियल-कार्य के लिए उपलब्ध कराया जाता है वही एम० एड० प्रशिक्षणार्थियो को सगोष्ठी-कार्य के लिए उपलब्ध कराया जाता है। यहाँ मुख्य लक्ष्य उनकी विशेष उपलब्धियाँ, शिक्षानुसन्धान प्रयोग आदि को सुगठित व निर्देशित करने का रहता है।

सत्रान्तव्यापी आयोजनीय दिवस एव समारोह-कार्यक्रम :

विद्यालयो मे विविध प्रकार के आयोजन व समारोह अब शैक्षिक सगाधना के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके है। प्रशिक्षणाधीन अध्यापक इनके मूल मे निहित धारणा, भावना तथा उनकी शैक्षिक निष्पत्तियो से [illegible] परिचित हो सके, उनके सयोजन-नियोजन की पूर्व-योजना बनाकर प्रभावी [illegible] सुचारित [illegible] अथवा उनके
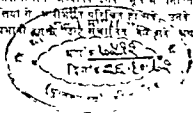
बोल-चाल जाएं, और समझ लिया जाय कि काम पूरा हो गया। विद्यालयों में ऐसे अवसरों पर समारोहों के आयोजन के प्रसंग में **अवसरानुकूल वातावरण बना पाने की चेष्टा** का महत्त्व कहीं अधिक है। इस वातावरण को बनाने के लिए वार्ता, वक्तृता व संवाद आदि के अतिरिक्त चाहे किन्हीं समयोचित सुचयित सूक्तियों व उद्धरणों को लेकर, या किन्हीं प्रभावी संस्मरणों व आधारभूत कारण-कार्यगत सम्बन्धों विषयक विभिन्न विश्लेषणपूर्ण प्रस्तुतियों को लेकर, या किन्हीं प्रकरणोचित सुसम्बद्ध विचारों के तुलनात्मक विवरणों को लेकर, या किन्हीं अन्य सूचनापूर्ण उपयोगी आंकड़ों आदि को लेकर, विशेषतः तैयार किए या कराए गए चार्टों, पोस्टरों, चित्रों व मानचित्रों से मदद ली जाए, चाहे प्रसंगानुरूप सुष्ठुतया चयित किसी ललित कार्यक्रम-विधा या विधाओं (काव्यात्मक, संगीतात्मक, नृत्यात्मक, नाट्यात्मक) का आश्रय लिया जाए, चाहे अपने प्रकृत उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकने योग्य इस प्रकार का कोई अन्य उपयुक्त एवं उपयोगी ढंग अपनाया जाए, आवश्यकता इस बात की है कि हम, बिना चूके, कोई न कोई ऐसा प्रयत्न अवश्य करें कि जो इस आयोजन को अधिकाधिक वास्तविकतापूर्ण, सुरुचिपूर्ण, सजीव एवं प्रभावशाली बनाने में सहायक हो।

६. यह भी आवश्यक है कि जो भी कार्यक्रम आयोजित किया जाए उसका हर अंश सोद्देश्य, सुगठित, संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित, शालीनतापूर्ण तथा अपने श्रोताओं एवं दर्शकों के भावों एवं विचारों के उदात्तीकरण में सहायक सिद्ध हो सकने योग्य हो। **दूसरे शब्दों में, समारोह का आयोजन एक नई प्रकार की "व्याख्यान-क्लास" का और रूप जाना मात्र ही न हो, वरन् उसमें अवसरानुकूल एवं प्रसंगानुरूप समुपयुक्त दर्शनीयता, प्रदर्शनीयता एवं प्रस्तुति-वैशिष्ट्य का योग्यतया सन्निवेश हो। इसी तरह जिस स्तर या आयु-वर्ग के लिए कार्यक्रम आयोजनीय हो, उसका भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय।**

७ शिक्षण-संस्थाओं में कोई भी दिवस मनाने या कोई भी कार्यक्रम आयोजित करने के पीछे कोई न कोई स्पष्ट संक्षिप्त दृष्टि अवश्य रहनी है। आयोजन के लिए आयोजन मात्र का यहां कोई स्थान नहीं है। सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति-दर्शियों की जयन्तियों का आयोजन करते हुए यहां उन आदर्शों एवं सिद्धान्तों का विभिन्नतया एवं समुचिततया निदेशन अभीष्ट रहता है कि जिनकी सार्वभौमता सब प्रकार से असंदिग्ध मानी जाती है कि जिनमें मानव-चिन्तन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि समाहित मिलती है, कि जिनका ज्ञान मानव-मात्र की चिरन्तन एवं अम्लान भावात्मक एकता का प्राणिमात्र के हृदय में हठात् विश्वास जगाया जा सकता है। इसी प्रकार, कोई दिवस, राष्ट्रीय गौरव, राष्ट्रीय-एकता, अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द, सांस्कृतिक परम्परा-वैशिष्ट्य के प्रतीक होते हैं जो कोई समर्पित कार्यकर्ताओं एवं बन्धुओं से कार्य एवं विचार दोनों ही स्तरों पर निकटतर सम्पर्क आदि की ओर

प्रदान आवश्यक था। इसके प्रति अभिरुचि [illegible] एवं सांस्कृतिक जीवन में इस प्रकार पूर्ति की अभिरुचि विकसित हुई [illegible] न [illegible] किया जाता है। विचार और [illegible] नहीं है कि कोई भी कार्यक्रम बिना पूर्व [illegible] के आयोजित है [illegible] पूर्ति न हो पाये।

८ विभिन्न अवसरों पर आयोजित कार्यक्रमों का [illegible] हो [illegible] आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए यदि एक वर्ष 'वन महोत्सव' के अवसर पर [illegible] 'होलिकोत्सव' पर सर्वधर्म-सम्मेलन तथा ईद दिवस पर 'संत साहित्य' का कार्यक्रम रखा गया हो तो किसी अन्य वर्ष वनमहोत्सव पर 'लघु कविता पाठ', ईद-दिवस पर कोई "परिचर्चा" या "वाद-विवाद" तथा होलिकोत्सव पर कोई "गृह-नाटिका" या "कवि सम्मेलन" का कार्यक्रम रखा जा सकता है। कार्यक्रमों के निर्धारण के पीछे दृष्टि यह रहनी चाहिए कि विभिन्न आयोजनीय दिवसों के माध्यम से सांस्कृतिक कार्यक्रमों के सभी पक्ष एक-एक कर भी गुणात्मक रूप से प्रस्तुत हो सकें। प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में हमारी एक अन्य अपेक्षा यह भी है कि प्रशिक्षणार्थियों का ध्यान मनोरंजक तथा प्रयोजनकारी, बुद्धि-पूर्ण एवं छात्र-छात्राओं के स्तरानुरूप कार्यक्रमों की ओर आकृष्ट हो सके तथा तदनुरूप विविध समुचित कार्यक्रमों के समायोजन का अवसर उन्हें मिल सके।

शनिवासरीय शैक्षिक कार्यक्रम :

सत्र भर में उपलब्ध शनिवासरीय तिथियों का उपयोग दो प्रकार से किया जाता है :—

विषय—परिषदवार शैक्षिक कार्यक्रम
समग्र समूहगत शैक्षिक कार्यक्रम] प्रति एकान्तर शनिवार

महाविद्यालय के प्रशिक्षणार्थियों की विषय परिषदें अपने वर्ष भर के कार्यक्रम की रूपरेखा तिथिवार पहले से तैयार कर लेती हैं। ऐसा करने में वे विषय का निश्चय, उसके प्रयोजन का निश्चय, अभिव्यक्ति की शैली का निश्चय इत्यादि सभी दृष्टियों से उसकी विस्तृत रूपरेखा सम्मुख रख लेते हैं। इससे शिक्षण की विविध विधियों व तकनीकों का भी उन्हें क्रियात्मक अनुभव हो जाता है। जैसे, इस वर्ष विभिन्न कार्यक्रमों के लिए कार्यक्रम वाद-विवाद, आशु-भाषण, पैनल-चर्चा, विचार-संगोष्ठी, पत्र वाचन, कार्यशाला, शास्त्रार्थ रोल प्लेइंग, परिचर्चा, वार्ता साक्षात्कार, आदि विधाएँ सुनिश्चित की गई थी। ऐसे नियोजित कार्यक्रम अपनी पूर्व-तैयारी में स्व-शिक्षणनिष्ठ हो जाया करते हैं, और उनका सम्पादन उच्च स्तर पर हुआ करता है।

इसी प्रकार समग्र शनिवासरीय सभाओं के लिए भी विभिन्न विषय विभिन्न विधाओं में नियोजित किए जाते हैं। वे विषय मुख्यतः शिक्षा सम्बन्धी पाठ्यक्रम से सम्बन्धित होते हैं जिसमें प्रतिभागियों और सभागियों को प्रत्यक्षतः लाभ भी होता है।

इन दोनो ही प्रकार के कार्यक्रमो मे महाविद्यालय से बाहर के प्रतिष्ठित एव निष्णात व्यक्तियो के आमन्त्रित करने तथा उनकी विद्वता का लाभ उठाने का लक्ष्य भी रहता है। प्रत्येक आयोजनीय कार्यक्रम किसी न किसी निर्देशक प्राध्यापक के निर्देशकत्व मे आयोजनीय होता है ।

सप्ताहान्त सैद्धान्तिक उप-परख :

पाठ्यक्रम मे निर्धारित सैद्धान्तिक विषयो के अध्ययन-अध्यापन तथा अर्जित ज्ञान के निरन्तर पुनरावर्तन की दृष्टि से प्रति सप्ताह एक विषय के लिए साप्ताहिक परख का नियमित आयोजन किया जाता है। इस आयोजन के पीछे एक लक्ष्य यह है कि अर्जित ज्ञान सुग्राह्य ढग से आत्मीकृत भी होता चले और विषय-ज्ञान से विस्मृति की सीमा तक के अन्तराल को बचाया जा सके। नियोजन इस प्रकार से होता है कि प्रत्येक सैद्धान्तिक विषय की सत्र भर मे चार-पाँच उप-परखे हो जाएँ। यह एक प्रकार से सिमेस्टर प्रणाली के लाभो से युक्त योजना है। इन साप्ताहिक परखो का समय एक कालाश होता है और इकाई-परख के ढग से उनमे प्रश्नो की योजना की जाती है।

उपसत्रान्त आवधिक परख

प्रत्येक उप-सत्र के अन्त मे—पहली नवम्बर माह मे तथा दूसरी, फरवरी माह मे—आवधिक परख का आयोजन किया जाता है ताकि तब तक के अर्जित ज्ञान की अनिवार्यत पुनरावृत्ति हो जाए और उस पर प्रशिक्षणार्थी का पर्याप्त अधिकार हो जाए। पहली आवधिक परख का समय 2½ घण्टे और दूसरी आवधिक परख का 3 घण्टे रखा जाता है। दूसरी आवधिक परख मे विश्वविद्यालयीय परीक्षा के स्तर को दृष्टिगत रखा जाता है।

प्रवेशार्थी-अर्हता-परख

महाविद्यालय मे प्रवेश लेने वाले प्रशिक्षणार्थियो की विषय वस्तुगत प्रवृत्तिगत तथा व्यवसायगत अर्हताओ, अभिवृत्तियो का मापन करने की दृष्टि से सत्रारम्भ मे ली जाने वाली 'परख-योजना' इस महाविद्यालय की नूतन परम्परा है। प्रारम्भिक पन्द्रह दिवसीय कार्यक्रम इसी दृष्टि से आयोजित किए जाते है और इनसे प्राप्त निष्कर्षो का प्रशिक्षार्थी के सत्र-भर के विकास की गति से तुलना-मूलक मिलान किया जाता है। इस समय यह कार्यक्रम प्रयोगाधीन है।

इसके अतिरिक्त विविध रूपो मे समुच्छ्रित अभिव्यक्तियो को भी परख का आधार बनाया गया था। अभी इस दिशा मे बहुत कुछ करना शेष है।

स्व-मूल्यांकन कार्यक्रम :

महाविद्यालय की विविध प्रवृत्तियो, भौतिक सुविधाओ शैक्षिक स्तर तथा अन्य

पक्षों का मूल्यांकन प्रशिक्षणार्थियों एवं अध्यापकों के स्तर पर कर पाने की दृष्टि से किसी समुपयुक्त साधन का विकास करना इस समय विचाराधीन है। प्रचलित कार्यक्रम की भावी दिशा तथा स्वरूप इस में ऐसा स्वमूल्यांकन दिशा-संकेतक सिद्ध हो सकेगा।

'पूरे समय विद्यालय में'—योजना :

दो विषयों के अध्यापनाभ्यास-कार्यक्रम की समाप्ति के बाद प्रशिक्षणार्थियों को एक सप्ताह तक 'पूरे समय विद्यालय में रहकर' पूर्ण एवं नियमित अध्यापक की भाँति उसके अभिन्न अंग के रूप में कार्य करने का अवसर दिया जाता है। इस समय में वह अपने दो विषयों में नियमित अध्यापन-कार्य उसी दक्षता और भावना पूर्वक—इकाई योजना, दैनिक पाठ योजना, प्रवृत्ति कार्य आदि के लिखित संकेतों के निर्माण सहित—करता है जिस दक्षता और भावना से वह प्रतिदिन एक पाठ देता रहा था।

इस सप्ताह-व्यापी कार्यक्रम में प्रशिक्षित अध्यापक से और भी कुछ अपेक्षाएँ की जाती है जो एतद्सम्बन्धी निम्नलिखित रूपरेखा से स्पष्ट हो जाएँगी—

"पूरे समय विद्यालय में"—दिनांक ६-२-७१ से १३-२-७१ तक सम्पादनीय इस पूर्ण-दिवसीय अध्यापनाभ्यास-चक्र में प्रत्येक विद्यालय में सामान्यतः परिनिर्वहणीय कार्यक्रम का स्वरूप यह होगा :—

पीरियड १ :—प्रार्थना, प्रार्थनोपरान्त प्रवचन, व्यायाम, अखबारी समाचार।

(नोट—व्यायाम पहले पीरियड में तब, जब शिफ्ट सबेरे की हो। अपराह्न शिफ्ट में यह पूरा ही कार्यक्रम अन्तिम पीरियड में।)

पीरियड २, ३, ४, ५, ६ एवं ७ :—

(क) **अध्यापन** —प्रत्येक प्रशिक्षणार्थी अपने प्रत्येक अध्यापन-विषय में दो-दो पाठ प्रति दिन पढ़ावे।

(ख) **अन्य कार्य** —सुभाषित पट्ट लिखना (प्रतिदिन), समाचार-पट्ट लिखना (प्रतिदिन), बुलेटिन-बोर्ड सज्जित करना (प्रतिदिन), सप्ताह में दो दीवार-पत्र तैयार कर लगाना, एक 'प्रकरण अध्ययन' (केस-स्टडी) प्रत्येक छात्र द्वारा अलग-अलग।

पीरियड ८ :—**पाठ्यसहगामी प्रवृत्तियाँ** :—एक-एक दिन करके क्रमशः अन्त्याक्षरी, कविता-प्रपाठ, सुगम-संगीत, आशु-भाषण, मूर्तिप्रस्तुति, वाद-विवाद प्रतियोगिता आदि।

ये कार्यक्रम पूरे स्कूल को लेकर नहीं, वरन् एक-एक सेक्शन को लेकर हों तथा प्रत्येक सेक्शन के साथ एक-एक दो-दो छात्राध्यापक या छात्राध्यापिकाएँ सम्बद्ध हों।

जहाँ खेल-कूद की सुविधा हो वहाँ स्कूल-समय के बाद (आठवें पीरियड के अनन्तर) उसका आयोजन हमारे कॉलेज के छात्र-छात्राओं के परिवीक्षण में कराया जाय।

नोट :—अपराह्न-शिफ्ट में ८वें पीरियड का कार्यक्रम पहले में और पहले का ८ वें में हो।

विशेष :—प्रत्येक छात्र-छात्रा जो पाठ पढ़ावेंगे, उनके लिए प्रत्येक कक्षा तथा पीरियड की दृष्टि से इकाई योजनाएँ (अध्यापन एवं परीक्षण दोनों पक्षों सहित) सदा की तरह ही सविस्तार पहले से ही बनायेंगे और इस कार्यक्रम के आरम्भ होने के पूर्व उसे अपने सम्बद्ध प्रध्यापकों को दिखाकर उन्हें अनुमोदित करा लेंगे। प्रत्येक पाठ के लिए वे इन दिनों संक्षिप्त पाठ-योजनाएँ बनायेंगे, जिसका नमूना अलग से प्रसारित किया जा रहा है।

'इकाई-योजना' शिक्षक के अध्यापन की योजना का मुख्य आधार है। उसे न प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में रहते हुए और न विद्यालयों में नियमित अध्यापक होकर कार्य करते हुए ही कभी संक्षिप्त या रूपरेखा-मात्र के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा को ठीक माना जा सकेगा। उसे न केवल प्रत्येक अध्यापक को अपने अध्यापन-क्रम के प्रारम्भ में सदैव बनाना होगा बल्कि उसे सदैव अच्छी तरह और सविस्तार बनाना होगा। यह कर चुकने के पश्चात् ही 'दैनन्दिन-पाठ-योजना' का स्वरूप संक्षिप्त कर पाने का आधार मिल सकेगा। किन्तु यह स्मरणीय है कि 'संक्षिप्तता' का अर्थ 'अर्थहीनता' या 'निस्सारता' की सीमा छू उठना नहीं है, वरन् उसका गुण 'स्पष्टता की रक्षा करते हुए 'सारगर्भितता' है।

(२) प्रार्थना-प्रवचन, समाचार-पट्ट-लेखन आदि आदि का कार्य अलग-अलग दिनों पर प्रत्येक ग्रुप के छात्र-छात्राओं में से भिन्न-भिन्न छात्र-छात्रा बारी-बारी से अलग-अलग करेंगे। एक-एक प्रवृत्ति या कार्यक्रम के साथ प्रतिदिन वे ही छात्र या छात्राएँ ही सम्बद्ध नहीं रहेंगी। सम्बन्धित विद्यालय में यदि विविध पट्ट-लेखन कार्य के लिए श्याम-पट्ट उपलब्ध न हो सकें तो प्रशिक्षणार्थी उनके स्थान पर "लपट फलकों' का प्रयोग कर सकते हैं।

(३) "शारीरिक-शिक्षा" का उपक्रम सामूहिक नहीं होगा, वरन् प्रत्येक छात्राध्यापक या छात्राध्यापिका के नेतृत्व व निर्देशन में एक-एक, दो-दो कक्षाओं के दल इसके लिए *अलग-अलग हो जाएंगे।*

(४) संक्षिप्त पाठ-योजनाएं केवल पाठ्य-विषयों सम्बन्धी पाठों की ही नहीं बनेंगी वरन् पाठ्य-सहगामी प्रवृत्तियों की भी बनेंगी जिनमें अन्य सामान्य पाठ-योजनाओं की भाँति ही उद्देश्यादि का ठीक-ठीक निर्धारण करते हुए सम्बद्ध करणीय एवं उसके मूल्यांकन-क्रम का स्पष्टतया उल्लेख रहेगा।

आयोजित करता है। गत दो वर्षों मे इस विभाग ने विभिन्न विषयों मे 'गुणात्मक शिक्षण' तथा 'विद्यालय-योजना' पर सघन कार्यक्रम आयोजित किए है। अगले वर्ष इस सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन-कार्य भी विचाराधीन है।

इस प्रकार यह महाविद्यालय "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" के सिद्धान्तानुसार नई-नई योजनाओ प्रयोगो और अनुसधानो मे उत्तरोत्तर अग्रसर है।

••

आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्म-सयम—केवल यही तीन जीवन को परमशक्तिसम्पन्न बना देते हैं।

—टेनीसन

विषय सूची

लियो जी गोविन्दो मोल !

—विपिनविहारी वाजपेयी

शिक्षक बनना, शिक्षक के दायित्व को समझना और सही भावना से उसका निर्वाह करना कोरे अनुकरण पर निर्भर नहीं करता। वह प्रचुर साधन-सम्पन्नता पर भी निर्भर नहीं करता। महान् शिक्षाविदों और शिक्षाकारों के विचारों और कार्यों के ज्ञान की पूँजी भी शिक्षक को केवल पृष्ठ-बल और आधार ही प्रदान कर सकती है। कार्य के सुचारु सम्पादन के प्रसंग में उसे जिस बात की कहीं अधिक आवश्यकता है, वह है उसकी अपनी आस्था, अपनी रुचि और फिर उसका स्वविवेक और स्वकर्तृत्व। चाहे रुचि से, चाहे संयोग से, चाहे विवशता से — कोई कैसे भी जब एक बार शिक्षक बन गया तो फिर देश के नौनिहालों के जीवन-निर्माण के पवित्र और महत्त्वपूर्ण कार्य से जुड़े-बँधे हर व्यक्ति के — चाहे स्वयस्फूर्त रूप से, चाहे अपनी इच्छा-शक्ति के दृढ़ संयोजन पूर्वक, इस प्रकार की दृष्टिमत्ता से सम्पन्न हुए बिना गति कहाँ है ?

अपनी शिक्षा समाप्त कर जीवन में प्रवेश का समय आया। शिक्षा की समाप्ति किस स्तर पर जाकर हुई, यह प्रश्न गौण है। बहुत कुछ वह घर की परिस्थितियों पर निर्भर है। दसवीं-ग्यारहवीं के बाद भी वह हो सकती है, बी० ए० के बाद भी, एम० ए० के बाद भी। पर जब जीवन में प्रवेश ही करना है तो करना है। बी० ए०-एम० ए० नहीं हो पाये तो नहीं हो पाये। जीवन 'सलाम' को ठहरा।

जितनी धरती एक बार में हाथ आ गई, आ गई । अब उसी पर खड़े होना [illegible]
की फिर सोचेंगे । तो बात जीवन-प्रवेश की थी । किस द्वार से प्रवेश करें ? [illegible]
जिधर से मन चाहे ? भला यह कहाँ सम्भव है ? जबरदस्त भीड़ है, [illegible]
है, जबरदस्त शर्तें हैं । हाँ, यह एक द्वार है । भीड़ तो यहाँ भी कम नहीं [illegible]
अधिक ही है । होड़ भी है । पर शर्तें वैसी सख्त नहीं । थोड़ा ज़ोर लगाऊं, [illegible]
प्रवेश पा जाऊं । यह लो, आ गया अन्दर ! कौनसा दरवाजा था यह ? [illegible]
द्वार ।' शिक्षक-द्वार !

ओह, तो मैं 'शिक्षक-द्वार' से जीवन मे प्रविष्ट हुआ हूँ ! शिक्षक बन [illegible]
हूँ । हाँ बन गया हूँ । मेरे आस-पास और भी कई खड़े हैं । ये सब भी इसी [illegible]
से घुसकर अन्दर आये हैं । कुछ प्रसन्न खड़े हैं, कुछ चकित कुछ सकपकाये [illegible]
जीवन में प्रवेश । जीवन के विविध उत्तरदायित्वों का भार वहन करने की [illegible]
जुटाने का पहला प्रयास ! ये सब भी, हम सभी शिक्षक बन गये हैं । कुछ [illegible]
खड़े हैं, सम्भवतः इसलिए कि प्रवेश कर जहाँ आ खड़े हुए हैं, वहाँ आकर वे [illegible]
नहीं हुए हैं । यहाँ आ सकें, इस ओर उनका पहले से रुझान था शायद । कुछ [illegible]
मुख-मुद्रा मलिन लग रही है, सम्भवतः किसी दूसरे द्वार से प्रवेश करना चाहते थे, [illegible]
घुस न सके । परिणामतः इसी द्वार से आ गये अन्दर । खैर, अब आ गये तो [illegible]
गये ।

मैं, यह, वह सब शिक्षक हैं अब ।

×

बड़ा अन्तर है ! कल तक हम सब भी छोटे थे, छोटों की गिनती में थे,

×

×

लड़के थे, अपेक्षया कुछ बड़े लड़के । पर बस यही । इतना ही । इससे अधिक नहीं।
क्या बात थी ! क्या समय था । स्वतन्त्र थे । मुक्त थे ! पर अब जैसे योंहि ही [illegible]
गई हो ! बच्चों के बीच हैं हम ! अपने को उनसे अलग मान रहे हों, ऐसी भी
कोई बात नहीं । उनमें रमने में, उनके साथ हँसने-खेलने में आनन्द आता है, खूब आता
है । तबियत हरी हो उठती है । पर फिर भी लगता है, कहीं कुछ बदल गया है,
हम बदल गये हैं !

चारों ओर खड़े, बैठे, फैले इन बालकों के बीच एकमेक, एकरस होकर
बरतने और रमने की अपनी सहज रुचि और प्रवृत्ति के बावजूद एक जिम्मेदारी का
भान हमें घेरे है । हम इनमें हैं, इनके लिए हैं, किन्तु एक बात है—हम इनसे बड़े हैं,
इनकी जिम्मेदारी हम पर है । इनकी उन्नति, इनकी प्रगति और इनके समुचित विकास

ी जवाबदेही हम पर है। हम यह सोचते हैं, अनुभव करते हैं और जिम्मेदारी की
यस्कता या वयस्कता की जिम्मेदारी, कुछ भी कहे आप उसे, उससे हम अपने आपको
घिरा-घिरा, लदा-लदा पाते हैं। भारी जिम्मेदारी है यह! कठिन कर्तव्य है यह!
ीवन में प्रवेश करते ही यह एकदम इतना बोझ!! इतना बड़ा दायित्व!!!

× × ×

प्रशिक्षण के दौर से गुजर रहे हैं हम। शिक्षा के सिद्धान्त, शिक्षा मनो
विज्ञान, शिक्षा-व्यवस्था, शिक्षा की समस्याएँ, अध्यापन-कला, अच्छे अध्यापक के गुण,
उसका कौशल! ज्ञान के स्तर पर, कौशल के स्तर पर, अभिवृत्ति के स्तर पर!!
हमारी सख्या यहाँ इकाई-दहाई मे नहीं, सैंकडा मे है! सैंकडों प्रशिक्षण प्राप्त कर पहले
निकल चुके हैं, सैंकडो आगे और आएँगे, प्रशिक्षण पाएँगे, जाएँगे! पर अभी तो
मैं हूँ, हम हैं, हम सब इतने हैं!

अध्ययन चल रहा है। अभ्यास चल रहा है। मनकी कई गाँठें खुली हैं।
कई अन्यमनस्कताएँ धुली-पुछी हैं। कई कठिनाइयाँ हल हो पा रही हैं, बहुत सी
बातें सीखने को मिली हैं, मिल रही हैं। मन मे सन्तोष है, हम कुछ सीख रहे हैं,
पा रहे हैं।

पर बड़ा अटपटा लगता है, जब अपने मे कई पुरानों-पुरानो को यह कहते
सुनते हैं कि यह सब पोथावाद है, थोथा सिद्धान्तवाद है, क्षेत्र मे, व्यवहार में यह सब
कारगर नहीं, उपयोगी नहीं। मन को धक्का सा लगता है। स्वप्न बिखरता प्रतीत
होता है। प्रसन्नता की चमक धुँधियाने लगती है। तो क्या यह सब आयास अका-
रथ है, निष्प्रयोजन है? इधर अपने साथियों में भी देखता हूँ—अजीब तटस्थता है, उदा-
सीनता है, संवेदनहीनता है!

समय बीत रहा है! चेष्टा करता हूँ! विश्वास सँजोता हूँ! आत्मविश्वास
जुटाता हूँ! यह हो पाता है, सुख मिलता है, मन मे उत्साह आता है। पर फिर
एक झटका लगता है और सब कुछ जैसे बिखर-बिखर जाता है। कैसी विषम स्थिति
है! शिक्षण के प्रति, प्रशिक्षण के प्रति यह कैसी संत्रासमयी अनास्था है! कैसा
निषेधात्मक, नकारात्मक दृष्टिकोण है!

ज्ञान के जिज्ञासु, भलेमानुस, मेरे कई साथी ज्ञान को 'सम्बल' के रूप मे
नहीं, पाथेय के रूप मे नहीं, तदाकालीन नामूंलों के रूप मे बटोरना चाहते है, एक
मात्र भरय के रूप मे टाँक लेना चाहते है, 'तम्बाणी' की तरह आत्मस्थ कर लेना

चाहते हैं। 'विकल्प' की गुंजाइश वे नहीं रखना चाहते। 'स्वतन्त्र' का निर्ण
उन्हें स्वीकार नहीं! सदानीरा शिक्षा-सरिता की सतत प्रवहमान जलधारा में प्र
प्रयोग और स्व-चिन्तन-स्वरूप निज-मत-निर्माण और के यथोचित, यथावसर, अर्थ
मतदान की बात उन्हें सुहाती नहीं। सोचता हूँ, यह क्या है? यह क्या हो रह
है? कैसे चलेगा यह? क्या होगा यों? 'अर्थी' की सार्थकता तो यह नहीं। दुः
प्रतिपत्ति के प्रति, अथवा सृजनशील या रचनात्मक दृष्टिकोण के प्रति तो यही एक
वैराग्य है। यह कैसा प्रशिक्षण! कैसा प्रशिक्षणार्थीत्व!!

× × ×

प्रशिक्षण पूरा कर लिया है मैंने! प्रशिक्षणार्थी से मैं फिर शिक्षक ब
गया हूँ। प्रशिक्षणार्थी बनने के पहले भी मैं कुछ समय शिक्षक रह चुका था। इस
वह प्रशिक्षण-काल, उस समय अनुभव हुई विभिन्न कठिनाइयों और समस्याओं पर वि
व उनके समाधान के लिए एक सहजतया प्राप्त अवसर ही मुझे लगा। प्राय: मैं सो
करता था— विभिन्न शिक्षा-मनीषियों और प्रयोगकर्ताओं के सामने भी तो प्रारम्भ
और प्रारम्भ में ही क्यों, लगातार कुछ ऐसी ही समस्याएँ आई होंगी, आती रही होंगी
यह भी सोचता था कि समान समस्याओं के जो समान समाधान हों और जिन कि
के ही, उनका तो यथावत् रूप में उपयोग या उपयोजन सम्भव है पर इस 'समानता' का
सामान्यीकरण क्या सरल है? हर युग की अपनी समस्या होती है, हर परिवेश की अपनी
समस्या होती है, हर बालक की अपनी समस्या होती है, हर शिक्षक की अपनी समस्या
होती है, और इस कारण शिक्षक का काम मात्र तद्वत् या यथावत् उद्धरणों से नहीं
चलता, विचारहीन अनुगमन से नहीं चलता, अन्धानुकरण से नहीं चलता। यही शिक्षक के
कार्य की अपनी कठिनता है, यही उसकी अपनी जटिलता है, यही उसकी विशिष्टता
है। 'प्रयोगशील प्रवृत्ति' का अनुसरण तो श्रेयस्कर हो सकता है, किन्तु उपलब्धियों
का अन्धानुकरण प्राय: निराशा का ही कारण बन सकता है। इसी प्रतीति को, इसी
अनुभूति को मैं अपने प्रशिक्षणकाल की सबसे बड़ी उपलब्धि मानता हूँ। मैंने राह पर
चलने वालों के खट्टे-मीठे अनुभव वहाँ सुने हैं, जाने हैं, पढ़े हैं, मन की आँखों में
उनके मन की आँखों में झाँककर शिक्षा और शिक्षक के मार्ग में आ खड़ी होने
वाली कठिनाइयों के रोमांस का अनुभव मैंने किया है। कैसे बताऊँ कि इस अनुभव
का मेरे लिए आज कितना महत्त्व है! वह अनुभव मेरी अमूल्य धरोहर है, वह मेरे
लिए प्रेरक है, उद्बोधक है, दिशा-निर्देशक है!

प्रशिक्षण-काल के अपने कई साथियों से यहीं तक स्पष्ट मतभेद भी मेरा रहा है।

मेरे इन अनेक साथियों ने अपनी प्रशिक्षण-उपलब्धि की ओर प्राय: किसी मजबूत दीवारों वाली मजूषा में रखी किसी वस्तु की तरह देखा है। कभी कौतूहल से देखा है, कभी मुग्धभाव से उसे सराहा है, कभी सशंक भाव से ताका है, तो कभी अविश्वास से उसकी ओर देख-देखकर मुँह बिचकाया है, पर भावात्मक स्तर पर उसके साथ अपना सम्बन्ध उन्होंने नहीं बनाया।

खैर, मैं अपना प्रशिक्षण पूरा कर लौट आया हूँ।

× × ×

मैं फिर अपने स्कूल में हूँ, अपने स्कूल का शिक्षक हूँ। अब यही मेरा कार्य है, यही मेरा क्षेत्र है, यही मेरी साधना-भूमि है। बड़े-बड़े शिक्षाविदों तथा शैक्षिक-प्रयोग-कर्ताओं के विचारों और प्रयोगों के परिणाम मेरे प्रेरक हैं, मेरा पृष्ठ-बल हैं। किन्तु मैं जानता हूँ, जो कुछ काम मुझे करना है, वह मुझे करना है। मेरे बालक मेरे बालक हैं। मेरा परिवेश मेरा परिवेश है। मेरा आज का परिवेश ! मेरी अपनी सीमाएँ हैं, मेरे परिवेश की अपनी आवश्यकताएँ हैं, मेरे विद्यार्थियों की अपनी समस्याएँ हैं। मैं कोरी नक़ल नहीं कर सकता। नक़ल में भी अकल की ज़रूरत होती है, यह मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ। 'अमुक' बात क्या अच्छी है ! उसकी क्रियान्विति तो हो ही नहीं सकती—यह कह कर मैं उस 'अमुक' बात के विधाता या प्रस्तोता के गौरव को तो कुछ भी आँच नहीं पहुँचा रहा होता, बस अपने विवेक और कर्म-कौशल को ही लांछित कर रहा होता हूँ। अच्छे से अच्छे विचार को, सुझाव को, यहाँ तक कि अनुभूत प्रयोग तक को भी केवल 'ग्रहण' से नहीं वरन् उसके आत्मीकरण एवं स्वानुकूलीकरण द्वारा ही अपने लिए उपयोगी बनाया जा सकता है। जो यह नहीं करता या जो यह करने में हिचकता है, पिछड़ता है, या आलस्य करता है, उसके तो निराशा और असफलता ही हाथ लगने को है।

'जो है,' 'जैसा है', उसकी शिकायत ही करते रह कर तो कुछ बन नहीं पाता। जो है, उससे प्रारम्भ करने की ज़रूरत है। करते-करते कई बार नये-नये रास्ते और सूझें चलते हैं। "वह नहीं है, इसलिए यह कैसे हो", यह वृत्ति काम से जी चुराने वालों में ही प्राय: अधिक देखने में आती है। 'उतने, उतने सारे के अभाव' में 'यह इतना' भी न करें, इस प्रवृत्ति को स्वीकार करके भला कैसे चला जा सकता है ? सोचें तो, इससे बढ़कर आत्म-वंचना की बात भी क्या होगी ?

मेरे पास 'बहुत कुछ' नहीं है। मैं 'सब कुछ' या 'बहुत कुछ' जानता हूँ—यह

अभिमान भी मैं कैसे करूँ ? मैं तो अपने अध्ययन से, अपने अनुभव से कह रहा हूँ कि सीखी है— करना नहीं है, राह ढूँढ़नी पड़ती है । जो और चाहिए, उसके लिये मेरा करती है, पर उसकी प्रतीक्षा में 'जो है', और 'हो सकता है', उसे स्वीकार नहीं कर है । और, ऐसा लगता है कि यदि इस प्रवृत्ति से बचा जाए और बचते रहा जा तो 'कुछ' ही नहीं, 'बहुत कुछ' किया जा सकता है । और फिर शिक्षा के, खासकर टालमटोल के किन्हीं भी शर्तों में यह बात कैसे भुलाई जा सकती है कि हमें जिनके लिए और जिनको लेकर काम करना है, वे वे हैं जो राष्ट्र के नौनिहाल हैं, जो राष्ट्र के भावी नागरिक हैं—भावी कर्णधार हैं ।

जीवन में प्रवेश करने की अनिवार्यता जिस दिन उजागर हुई, बस, दौड़ पड़ा था । जिस किसी द्वार से भीतर घुसने को मिला, बस घुस पड़ा था । घुसकर अन्दर आया तो पाया कि मैं जिस द्वार से अन्दर आया हूँ, वह शिक्षक-द्वार है । जीवन का वह भी एक विशिष्ट और विचित्र क्षण था ! तब से अब तक न जाने कितना पानी बह चुका है । उस समय से लेकर अब तक के मानसिक आलोड़न-विलोड़न की कहानी आपको सुना आया हूँ । अपनी सम्पूर्ण सीमाओं के बावजूद शिक्षक होना मुझे अच्छा ही लगा था । ऐसा तब भी अनुभव किया था । आज भी करता हूँ । उसमें आज बस इतनी सी बात और जोड़ना चाहता हूँ कि जितना ही मैंने इस काम के बारे में सोचा है, उसे किया है, मुझे वह उतना ही अधिक चुनौतियों से भरा लगा है । किन्तु जितना ही मुझे वह ऐसा लगा है, उतना ही अधिक सुभावना और प्रेरणास्पद भी मैंने उसे पाया है ।

कोई कभी ग़लती से कोई काम चुन बैठता है, और फिर उसे निभाते ही बनता है, कोई न चाहते हुए भी किसी काम में प्रवृत्त हो जाता है, और फिर वह काम उससे छूटता नहीं । कोई शौक से, रुचि से किसी काम को स्वीकार करता है, पर उस काम की जटिलताएँ उसका हौसला पस्त करने लगती हैं । फिर भी वह उसे करता है, करता चलता है, पर सहमा-सहमा सा । ऐसों में से कोई एक दो पटकी खाकर, विपरीत परिस्थिति पर वश पा लेता है और फिर सहज गति से चलने लगता है । कई हैं जो मन से काम उठाते हैं, और उनकी वह 'मन की' अच्छी तरह निभती भी चलती है । मैं जानता हूँ, शिक्षक बनने वाले मेरे साथियों में भी इनमें से हर प्रकार के लोग हैं ।

मैं एकदम ठीक तो नहीं कह सकता कि मेरे ये सभी साथी ठीक-ठीक क्या सोचते हैं या कि इस बारे में वे मुझ से कहाँ तक सहमत हैं, किन्तु मैं अपनी बात कहता

जाना है। मीराँबाई का एक पद है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

'माई री, मैं तो लियो गोविन्दो मोल।
कोई कहे छाने, कोई कहे चौड़े, लियोरी बजन्ता ढोल।
कोई कहै मूँघो, कोई कहै मूँघो, लियोरी अमोलक मोल।'

मीराँ ने 'गोविन्द' को मोल ले लिया। 'मूंघे'–(सस्ते), मूंघे-(महँगे) की बात उनके लिए बेमानी थी। उन्होंने तो अमूल्य समझकर उसका सौदा किया, और उसी भाव से उसे लिया। 'छाने'-(छिपकर), या 'चौड़े'-(प्रगट) के लोकाचार का संकोच भी उन्हें नहीं व्यापा। उन्होंने तो ढोल बजाकर निस्संकोच भाव से यह सौदा किया।

मीराँ तो मीराँ थी–भक्तिमती, अगाध श्रद्धा और विश्वासमयी! भला उनकी बराबरी क्या? पर क्या मैं कहूँ कि जो कोई–चाहे जैसे या बस—कैसे भी शिक्षक बन गया है, उसने भी, मानिये, 'गोविन्दे' को मोल ले लिया है। मीराँ एक ही 'गोविन्दे' को लेकर 'दिन-राती' व्यस्त हो उठी थीं। यहाँ तो एक नहीं, बहुत बड़ी संख्या 'गोविन्दे' के रूप में, 'बाल गोविन्दे' के रूप में उसके सामने है, आस-पास है, चारों ओर है। चाहे शिक्षक बनना किसी का 'अपना' चुनाव हो, चाहे वह किसी अदृष्ट विधान का अनिवार्य आरोपण हो, चाहे किसी ने अध्यापन-कार्य के प्रति अपनी सहज रुचि और उसकी सहज महनीयता से आकृष्ट होकर उसे अपनाया हो, चाहे कोई परिस्थितिवश अपनी अन्य महत्वाकांक्षाओं के 'महँगे' त्याग के लिए विवश होकर या प्रवेश की अपेक्षया सहज-सरल स्थिति देखकर इधर उन्मुख हो गया हो, किन्तु इस क्षेत्र में प्रवेश के बाद तथा शिक्षण-कार्य से सम्बद्ध होने के बाद, किसी के लिए इस अनुभूति से अपने आप को विरत रख पाना शायद ही सम्भव हो कि उसने एक भारी जिम्मेदारी का काम अपने हाथ में ले लिया है। घर पर सफेद हाथी बाँधने की बात तो अपने ऊपर किसी भारी किन्तु अन्यथा जिम्मेदारी लेने के प्रसंग में प्रायः कही जाती है। किन्तु यहाँ इस प्रसंग की महनीयता के अनुरूप स्वयं 'गोविन्दे' को, और वह भी 'बालगोविन्दे' को मोल ले बैठने की महान् और विराट ज़िम्मेदारी की बात कहने से बढ़कर कोई और उपयुक्त उदाहरण मुझे ढूँढ़े नहीं मिल रहा। कोई शिक्षक, फिर चाहे वह अपनी रुचि से शिक्षक बना हो, चाहे महज इत्तफाक़ से या भूल से, यदि अब भी अपने शिक्षक बन जाने को भूल ही मानता रहे और पछताता रहे तो उसकी वह जाने। किन्तु कुछ भी हो, अपनी ज़िम्मेदारी से भाग कर वह कर्तव्य-विमुखता का दोषी तो होगा ही, कम से कम आत्मग्लानि की आग में तो जलेगा ही।

और राष्ट्र की भावी आशा-आकांक्षाओं के अनुकूलन में सटीक ठहरती है।

अन्य सभी क्षेत्रों में गुणवत्ता की बात— समुन्नयन, सृजन और क्रियाशीलता की बात— 'भाषा'-गत गुणवत्ता और समुन्नयन की सहज-स्वाभाविक अपेक्षाओं से भिन्न नहीं होगी। भाषा ही तो अन्य सभी अभिव्यक्तियों की वाहिका है, माध्यम है, साधन है। किन्तु उसे 'साधन'-रूप में सुप्रतिष्ठित करना और प्रत्येक प्रकार की अभिव्यक्ति के योग्य अर्हता और सक्षमता उसमें लाने की चेष्टा करना, यह स्वयं में 'साध्य' भी है। अतः विद्यालयों के स्तर पर मातृभाषा-शिक्षण में गुणवत्ता लाने की बात सोचना समुपयुक्त है।

किन्तु, इसका यह तात्पर्य तो नहीं हो सकता कि अब तक हम लोग मातृभाषा हिन्दी-शिक्षण में गुणात्मक शिक्षण कर ही नहीं रहे थे! अवश्य कर रहे थे, और कर भी रहे हैं, प्रत्येक हिन्दीभाषा-शिक्षक अपनी योग्यता, क्षमता और अभिरुचियों के अनुकूल अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य से सार्थक शिक्षण की चेष्टा करता ही है, हाँ, अब नये आयामों और नई अपेक्षाओं को भी उसे अपने कार्यक्रम में संजोना है, यह समय की माँग है और भावी भारत की— जिसमें कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को समस्त भारतीय ज्ञान-विज्ञान के विकास, विस्तार और सम्प्रसारण का दायित्व निभाना है— यह पवित्र आकांक्षा है।

उद्देश्यनिष्ठ शिक्षण :

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी विषय में व्यक्ति-निरपेक्षता-लक्ष्यी मूल्यांकन के प्रयोग हो रहे हैं। माध्यमिक स्तर पर होने वाली सार्वजनिक परीक्षा में वस्तुपरकतात्मकता तथा उद्देश्यनिष्ठता लाने के प्रयोग व परीक्षण इस अर्थ व आशय में तो प्रत्यक्षतः प्रभावकारी दीख पड़ते हैं कि उनसे हमें शिक्षणगत उद्देश्यों व लक्ष्यों को प्राथमिकता देने की दिशाएँ सूझने लगी हैं। शिक्षण के उद्देश्य तो उससे पहले भी थे और सन् '६७ से पहले भी हम लोग भाषा के पाठों के प्रसंग में कुछ 'सामान्य उद्देश्यों' और 'कुछ विशिष्ट उद्देश्यों' की बातें सैद्धान्तिक स्तर पर सोचा करते थे। किन्तु, अब उद्देश्य-कथन के ढंग में, उद्देश्य-निर्धारक-उद्धरणियों के स्वरूप में काफी कुछ परिवर्तन आए हैं। 'भाषागत अभियोग्यताओं' की संकल्पना उभरी है और 'भाषागत कौशल के अर्जन' के संदर्भ में विहित मानसिक प्रक्रियाओं को सचेतन स्तर पर समझने-गुनने और चरितार्थ करने की बात अध्यापन में कही जाने लगी है।

अब सम्भवतः वह स्थिति नहीं बनी रह सकती कि हम कक्षा में आने के बाद ही यह पता लगाएँ कि 'आज क्या पढ़ाना है', और यांत्रिक-सा पढ़ाना शुरू कर दें। कभी

[illegible] कि [illegible]
कला और [illegible] है [illegible] है, [illegible]
को [illegible] किये [illegible]
प्रकार के उद्देश्यनिष्ठ शिक्षण का [illegible] के [illegible]
[illegible] है। आवश्यकता इस बात की है कि हम [illegible] के चिन्तन को [illegible]
स्वाभाविक बनाएँ और [illegible] के [illegible]
करें।

माध्यमिक स्तर पर 'पाठ' को समझना और निर्धारित प्रश्नों के उत्तर पाना यदि छात्र के लिए श्रेयस्कर है तो उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि इस बात की भी है कि वह 'जीवन' में रस ले, पुस्तकों में पढ़ी हुई बात का अपने ढंग से निष्पक्ष विवेचन करने में रस ले, चिन्तन कर सके और अनुभवाश्रित तथ्यों का यथार्थपरक समायोजन कर सकने में अधिकाधिक योग्य बने। यह जीवन से पृथक और मात्र परीक्षोपयोगी विषय नहीं हो सकती। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग होती है।

हमें या तो गद्य-पाठ पढ़ाने होते हैं या पद्य-पाठ। इन विविध-स्वरूपी गद्यों और पद्यों के 'आधार' से या उनके 'माध्यम' से हमें छात्रों में विविध भाषायी अभियोग्यताओं के विकास व अभ्यास के अवसर खोजने होते हैं और सुनियोजित ढंग से उनका उपयोग करना होता है।

यहीं कुछ ठहरने और सोचने की जरूरत है। क्या हम एक ही पाठ में सारे उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं? क्या सभी भाषायी अभियोग्यताओं को प्रत्येक पाठ में लक्ष्य बनाना जरूरी होता है? या कहीं किसी प्रकार के लक्ष्य आदि से बँधकर चलने की बात पर ही प्रश्न-चिह्न उभारने की आवश्यकता है? उद्देश्यनिष्ठ-शिक्षण की बात का प्रतिफलन कई प्रकार की विकृतियों में हुआ है। 'इकाई-योजना' का सम्प्रत्यय उभरा है। 'अध्याप्य बिन्दुओं' के विनिश्चयन की संकल्पना उभरी है। 'अध्यापक के कर्तृत्व के साथ-साथ छात्र के स्वकर्तृत्व की भी पूर्व-कल्पना की जाय', इस बात पर भी बल दिया जाता है; और यह अपेक्षा अनिवार्यतः रहती है कि 'मूल्यांकन' की पूर्व-योजना भी तैयार कर ली जाए। यानी, इकाईबद्ध शिक्षण का एक पूरा तन्त्र बाँधने की अपेक्षाएँ सक्रिय हो उठी हैं, ऐसा तन्त्र जो 'उद्देश्यनिष्ठ मूल्यांकन' का समाधक सिद्ध हो सके।

शिक्षण मूल्यांकन का समाधक हो, यह भी एक अपेक्षा है, किन्तु यही भाषा-

क्षण की एक मात्र अपेक्षा नहीं हो सकती। भाषा-शिक्षक का दायित्व उस सीमा से दूर तक जाता है। उसका बुनियादी ध्येय छात्र के 'भाषायी-व्यक्तित्व' को विकसाने, सजाने और परिपुष्ट बनाने में सहायता देने का होता है, परीक्षा का लक्ष्य एक प्रासंगिक उपलब्धि माना जा सकता है। यदि इस तथ्य को हम स्वीकार करके चलें तो अपने शिक्षण-सम्बन्धी कार्यक्रम को हमें एक नई दृष्टि से देखना होगा।

अध्यापन :

हिन्दी पढ़ाने समय हमें 'पढ़ाना' क्या होता है यह एक बुनियादी प्रश्न है। कई बार देखा है कि हिन्दी-शिक्षक कक्षा में गए, पुस्तक खोली, स्वयं पढ़ने चले गए, व्याख्या करते चले गए, कभी बीच-बीच में किसी शब्द का अर्थ पूछ लिया और स्वयं ही उसका पर्यायवाची भी बताकर आगे बढ़ गए कभी तथ्य, घटना आदि पर प्रश्न पूछ लिया और स्वयं ही उत्तर बताकर आगे बढ़ गए। एक स्थिति यह है, जिसमें 'शब्द' और 'घटना तथा तथ्य' पढ़ाने की सामग्री हुई या आई, किन्तु 'पढ़ा' किसने ? यदि कुछ 'सीखा गया' तो वह सीखा किसने ? ये प्रश्न पृथक्तः चर्चा करने के हैं।

चाहे गद्य का पाठ हो, या पद्य का, यदि हम यह जानते हैं कि हमें उसमें से कुछ तो (क) भाषा-सामग्री पढ़ानी है और कुछ (ख) वैचारिक सामग्री [तथ्य, घटना, भाव, विचार, वर्ण्य विषय आदि] पढ़ानी है, साथ ही साथ यदि हम यह जानते हैं कि इन दो प्रकार की सामग्रियों के माध्यम से हमें (१) कुछ तो नया ज्ञान कराना है, (२) कुछ चिन्तना-त्मकता की दिशाएँ छात्रों में उद्‌बुद्ध करनी हैं, (३) कुछ उन्हें अपने ढंग से बोल पाने की उत्प्रेरणा देनी है, (४) कुछ उन्हें अपने ढंग से और अपने अनुभवों के रंग में रंग कर, लिखने की प्रेरणा देनी है, (५) कुछ उनमें ऐसी जिज्ञासा भर देनी है कि वे व्यापक साहित्यानुशीलन करने के लिए अभिप्रेरित हों और (६) कुछ मूलभूत सामाजिक-नैतिक मूल्यों को उनके ध्यान में लाने की सार्थक चेष्टा हमें करनी है— यदि हम इतनी बातों का ध्यान रख पाएँ तो कोई कारण नहीं कि हमारा अध्यापन सुप्रभावी और सार्थक न हो सके।

ऊपर बताई गई स्थितियाँ कक्षा में यों भी, सहज भाव से कभी छात्रों की ओर से तो कभी हमारी ओर से उठ ही जाया करती हैं, किन्तु जब हम उनके लिए 'पहले से तैयार' नहीं होते तो या तो 'उनका महत्त्व' स्वीकारने की मन स्थिति में नहीं आ पाते, या जाने-अनजाने उन्हें कभी 'टाल जाते हैं', कभी उन्हें 'टरका देते हैं,' कभी उनमें 'गोल-माल कर जाते हैं,' तो कभी ऐसा 'कुछ' कर जाते हैं कि भविष्य में वैसी स्थिति आने की

सम्भावना कम हो जाए। इस प्रकार की मनःस्थिति में रहते पर हम 'आस्था' की 'अनास्था,' 'श्रद्धा' की जगह 'अश्रद्धा,' 'प्रेम' की जगह 'वैमनस्य,' 'विनिमय' की 'आतंकपूर्ण' आग्रह को ही सम्प्रेषणीय बना जाते हैं।

इस प्रकार के अयाचित दौर्बल्य से बचने के लिए पूर्व-तैयारी की आवश्यकता अध्यापन की सुनियोजित योजना बना लेने की आवश्यकता है।

अध्यापन की योजना बना लेने का दायित्व कोई बहुत बडा और खत जोखिमों से परिपूर्ण नही माना जाना चाहिए। वह तो वही सब कुछ है जो हम भी करते है। योजना बना लेने का सीधा मतलब यही है कि जो कुछ हम हैं, उसमें 'प्राथमिकताओं' का चुनाव कर लें, 'अनावश्यक' को छोड दें और 'छूटे आवश्यक पक्षों' को उसमे जोड लें।

इस ढग से सोचने पर और अपने कार्यक्रमों की समीक्षा करने पर हमें ल है कि बहुत कुछ तो हम ऐसे काम भी करते चले जाते हैं जो कई-कई बार कि चुके है और कई बार ऐसे काम हम करते चले जाते हैं जो वस्तुतः छात्रों द्वारा जाने चाहिए। मसलन, शब्दों के अर्थों को ही लें तो लगता है कि कुछ शब्दों को प्रत्येक कक्षा मे पर्यायबोध की उसी सीमा तक निरन्तर बताते चले जाते हैं और प्रतीति कर ही नहीं पाते कि यह शब्द, अर्थ की उस सीमा तक, छात्रों के ज्ञान अंग पहले ही बन चुका है, और अब यदि हम उसे अध्याप्य-सामग्री के रूप मे चुनें तो उ उद्योतन के कोई नये पक्ष उभारें। उदाहरण के लिए यदि 'उत्साह' शब्द कक्षा मे अर्थोद्योतन की दृष्टि से आ गया है, और उसे अब यदि कक्षा ६-१० मे भी पु है तो यह अधिक उपयुक्त होगा कि उसे (१) व्यंजन-गुच्छ के उच्चारण-कौशल दृष्टि से, (२) उसके रूपतात्विक गठन के ज्ञान की दृष्टि से, (३) उसकी प्रयो क्तियों को उजागर करने की दृष्टि से, (४) अन्य समान-भावी शब्दों से उसके गत विभेदीकरण की दृष्टि से समन्वित करके शिक्षण-बिन्दु बनाया जाए। बच्चों हम 'शब्द-बोध' की जितनी संकुचित सीमा में बाँध कर रखेंगे, भाषा का राष्ट्रीय उतना ही प्रतिबन्धित होकर रह जाएगा। जब हम कक्षा में किसी शब्द का उद्घा- [illegible] कर रहे होते हैं तब हम इस बात का [illegible] रहना चाहिए कि हम किसी शब्द का पर्यायवाची नहीं बता रहे हैं बल्कि राष्ट्रभाषा के समृद्ध स्वरूप का निर्माण

र रहे हैं या उसके निर्माण मे योगदान कर रहे हैं। यह भावना और कामना हिन्दी-शिक्षक की राष्ट्रीय थाती है और उसकी संरक्षा उसका सबसे बड़ा और सबसे पहला दायित्व है।

इसी प्रकार जब हम कक्षा मे स्वयं वाचन करते हुए तथ्य विचार, घटना आदि का विश्लेषण करते चलते हैं तब हम वह सब स्वयं करते चलते हैं जो वस्तुत: छात्रों को करना चाहिए। यह भी एक दुखद स्थिति है कि भाषा के पाठ जो कि छात्रों को पढ़ने चाहिए, अध्यापक 'पढ़ते' हैं और सामाजिक-ज्ञान, नागरिक-शास्त्र, भूगोल आदि की पुस्तकों के पाठ जो कि पढ़े 'बाँचे मात्र) 'नहीं' जाते हैं, उनका छात्रों से 'सस्वर वाचन' कराया जाता है!

माध्यमिक स्तर पर तो 'सस्वर वाचन' पर भी प्रश्न-वाचक चिह्न हमें लगाना चाहिए। यों भी 'बोलने में' और 'पढ़ने में,' भाषा की जिस 'अनुतानमूलकता' और 'पद-बन्धता' की अपेक्षा रहती है, वह १२ वर्ष तक की आयु के सामान्य बालक में आ ही जाती है। फिर भी, यदि इस स्तर पर कोई भावात्मक शैली का पाठ हो, कविता की कोई विशिष्ट शैली हो तो उस प्रसंग मे 'सस्वर वाचन' का कुछ औचित्य हो सकता है। अन्यथा तो, यह स्तर द्रुतगति से पढ़ने, सरपट पढ़ते हुए अर्थ व आशय ग्रहण करने और चिन्तन-योग्य स्थलों पर मनन, स्वाध्याय, समीक्षा आदि करने के अधिक उपयुक्त माना जाना चाहिए।

यदि इस विचार से हम सहमत हों तो हमें अपनी कक्षाध्यापन की प्रचलित परम्पराओं मे भी कुछ प्रस्थान-भेद करना होगा। जब हम यह मानकर चलेंगे कि सस्वर वाचन' इस स्तर पर कोई अनिवार्य करणीय नहीं है; शब्द का पर्यायवाची पूछना या बताना कोई प्रभावकारी उपाय नहीं है, प्रश्नोत्तर की वाचिक क्रियाएँ' अभिव्यंजना-वृद्धि की सार्थक सहायिकाएँ' नहीं हैं— तो हमें कार्य-शाला-स्वरूपी, विचार-विमर्श-स्वरूपी, प्रायोजना-कार्य-स्वरूपी, स्वाध्याय-स्वरूपी, दलगत-कार्य-स्वरूपी अन्यान्य विधाओं और तकनीकों का आश्रय लेने की बात सोचनी होगी। उदाहरण के लिए, तब हमारा पाठ किसी (पाठ्यपुस्तक) समस्या से मुक्त हो सकेगा, विविध पक्षों को लेकर छात्रों को क्रियाशील प्रवृत्तियों में संलग्न करने की योजना हम बना पाएँगे, मसलन, उप, परि, अ, अनु, दुर, स्व, सम आदि उपसर्गों-प्रत्ययों के प्रसंग में हम छात्रों को

ऐसे संकलन-कार्य का दायित्व दे सकते हैं कि वे किसी समय-सीमा में ऐसे शब्द [illegible]
संग्रह करके उसे प्रस्तुत करें; शब्दों के अर्थ, उनका गठन, उनके प्रयोग की स्थि-
स्थितियाँ आदि भी ऐसे काम हो सकते हैं जो छात्र व्यक्तिश: या इकट्ठा कर सकते
रह सकते हैं और समय-समय पर अध्यापक का मार्गदर्शन लेते रह सकते हैं। ऐसी
स्थिति में छात्र 'पढ़ेंगे' और हम 'मार्ग-निर्देश' करेंगे; आज तो इसका ठीक उलटा हो
रहा है, इसलिए यदि हम अपनी सारी पद्धति को उलट दें तो हम ठीक दिशा में
जाएँगे।

कविता-शिक्षण : कतिपय अपेक्षाएँ

बनवारीलाल शर्मा

मानव सौन्दर्यप्रिय प्राणी है और कविता उसके अनुभूतिमय क्षणों की रसपूर्ण अभिव्यक्ति। यह हमारी मंजुल, मनोरम रागात्मक वृत्तियों को जागृत कर उनमें संशोधन, परिवर्धन व उनका संस्कृतीकरण कर सद्वृत्तियों को उद्बुद्ध करती है। स्वतन्त्र व उन्मुक्त वातावरण में सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ यह आनन्दानुभूति व रसास्वादन करने की कला है। अतः आनन्द व रस की इस स्रोतस्विनी को नियमों व उपनियमों, विधियों व प्रविधियों में बाँधकर इसके स्वतन्त्र प्रवाह को प्रतिबन्धित करना समीचीन नहीं प्रतीत होता।

मानव-मन अनिर्वचनीय आनन्द से विभोर हो उठे, उसका अंग-प्रत्यंग प्रफुल्लित होने लगे, 'गूँगा मीठे फल का रस अन्तरगत ही भावे" की भाँति आनन्द व रस की अनुभूति असीम हो तभी कविता-शिक्षण का आनन्द— उसके अध्ययन में सजीवता है, भावानुभूति है। जैसे तुलसी की सम्पूर्ण सृष्टि राममय है उसी प्रकार कक्षा का वाता-

वरण पूर्णतया काव्यमय बन जाए, तभी कविता-शिक्षण सार्थक कहा जा...
शिक्षण स्वजनों से प्रेम करने के समान है। जैसे प्रत्येक प्राणी का अपना...
अपना निराला ढंग होता है और इसकी कोई निर्धारित प्रणाली नहीं है...
का कठोर बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार कविता-शिक्षण भी स्वच्छन्द...
हाँ। कुछ सीमाएँ व कुछ सिद्धान्त निर्धारित किए जाने आवश्यक हैं, वरन्
सरसता के स्थान पर स्वच्छन्दता का प्रवेश हो सकता है। कविता-शिक्षण
सैद्धान्तिक अपेक्षाओं का अनुशीलन-अनुपालन व अनुसरण करना अपेक्षणीय...
है, फिर भी कविता-शिक्षण के समय अध्यापक इनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन
वर्धन करने के लिए सक्षम है। स्वतन्त्र है कारण कि उसका उद्देश्य मानव की
कली को खिलाकर व उसकी हृदय-तन्त्रिका को झंकृत कर आनन्द-विभोर कर
और यह कार्य एक मात्र रूखे व नीरस सिद्धान्तों के कटघरे में नहीं हो सकता।

कविता का चयन समय, समाज व स्थान के अनुकूल होना चाहिए। ...
के मानसिक विकास व उनकी रुचियों व अभिवृत्तियों को भी ध्यान में रखना ...
श्यक है। शिक्षण के समय कक्षा में इसकी प्रस्तावना का बड़ा महत्त्व है। प्रस्ताव...
चाहे कहानी से हो, समभावी कविता से हो कवि-परिचय या सारांश कथन से हो,
लेकिन वह होनी चाहिए पूर्णतया रोचक। कुछ विद्वान् अध्यापकों की मान्यता है कि
कविता गा कर पढ़ाई जावे। इस विषय में अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता
है कि सब अध्यापक गीतात्मक रीति से कविता-पाठ नहीं कर सकते। कक्षा के
वातावरण पर भी गीत-प्रधान कविता-पाठ का अच्छा प्रभाव पड़ता नहीं देखा गया। ...
मान्यता यह है कि कविता का गेयतापूर्ण वाचन नहीं होना चाहिए अन्यथा कक्षा में
एक विचित्र सा वातावरण बन जाएगा। हाँ! कविता के वाचन में उचित विराम, ग...
मति व भावानुकूल आरोह-अवरोह का ध्यान तो अपेक्षणीय है ही। स्मरणीय है कि
भावानुभूति एवं सौन्दर्यानुभूति हेतु 'पाठ' वांछनीय है, न कि 'गायन'

कविता-शिक्षण में यथा-स्थान, सप्रयोजन व सार्थकतापूर्वक समभावी कवि...
उद्धृत करना भी उपादेय है। विस्तृत-ज्ञान, काव्य के प्रति अनुराग, प्रभावपूर्ण ...
भावानुकूल अभिव्यक्ति, सरसता, वाचन-कौशल आदि कविता-शिक्षक के कुछ अपेक्षित गुण हैं।
कविता स्वयं एक कला है किन्तु उसका शिक्षण एक सीमा तक विज्ञान भी है।
अतः इसके शिक्षण के कुछ सिद्धान्त नियम व प्रणालियाँ हैं, जिनका विभिन्न स्तर की
कक्षाओं में कविता पढ़ाने समय अनुपालन किया जाता है। कविता-शिक्षण की कुछ

व प्रणालियाँ इस प्रकार हैं :—

गीत एवं अभिनय-प्रणाली : प्राथमिक कक्षाओं के छोटे बच्चों को पढ़ाने लिए यह प्रणाली उपयुक्त है। बच्चों को बचपन से ही श्रुति-मधुर संगीत प्रिय ता है। वे गीतों को कण्ठस्थ करते हैं और राग-तान युक्त रूप से गाते हैं। कई त अभिनय-प्रधान होते हैं। तदनुसार अध्यापक को उनका पाठ भी अभिनय के य करना चाहिए ताकि बालक भी विधिवत् एवं तदनुरूप अनुकरण वाचन क हैं। अभिनय-गीत सामूहिक व वैयक्तिक दो प्रकार के होते हैं। अनावश्यक अंग-सचालन अच्छा नहीं लगता। इस विधि में यह ध्यातव्य है कि बालक चिल्ला कर न पढ़ें अन्यथा उनकी विचार-शक्ति मन्द पड़ जाती है और ऊँची कक्षाओं में मौन-वाचन करना उनके लिए बहुत कठिन हो जाता है।

कायिक सहयोग लिया जाता है और इस प्रकार वे क्रियाशील रहते हैं। इसी कारण यह प्रणाली प्रश्नकथन से अधिक मनोवैज्ञानिक भी कही जा सकती है। इसमें निगमनात्मक विधि का अनुसरण किया जाता है। देखा जाय तो यह प्रणाली बालक गद्य-शिक्षण के लिए अधिक उपयुक्त है परन्तु ऐतिहासिक तथा वर्णन-कविताओं या किसी महाकाव्य या उसके किसी खण्ड को पढ़ाने में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

व्याख्या प्रणाली . इस प्रणाली में कविता के भावों के स्पष्टीकरण सौन्दर्यानुभूति पर बल दिया जाता है। अध्यापक कविता के आन्तरिक भावों, विचारों, उसकी कल्पनाओं और अनुभूतियों को समझाता है। इसके द्वारा कवि छात्रों के बीच एक विशेष भावात्मक एवं रागात्मक सम्बन्ध-सा स्थापित हो जाता माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक तथा अन्य उच्च कक्षाओं के लिए यह प्रणाली सर्वाधिक उपयुक्त व प्रयोजनीय है। 'व्याख्या-प्रणाली' का प्रयोग करते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि व्याख्या सीमित, सरल, स्पष्ट व सुबोध भाषा में हो। वह असंगत व अनावश्यक न हो। साथ ही, वह छात्रों की मानसिक अवस्था, रुचि व ग्रहण-क्षमता को ध्यान में रखकर की जाय। छात्र केवल मूक श्रोता बने निष्क्रिय ही न बैठे रहें इसलिए बीच-बीच में प्रश्न करते रहना भी आवश्यक है ताकि वे कविता की सौन्दर्यानुभूति करते हुए उसके रसास्वादन की ओर अग्रसर हो सकें। व्याख्या-प्रणाली के तीन उपभेद हैं --

अ. तुलना-प्रणाली

ब. व्यास-प्रणाली

स समीक्षा-प्रणाली

(अ) तुलना-प्रणाली : इसके अन्तर्गत भाषा, भाव शैली अथवा विषयकी दृष्टि से तुलना की जाती है। समभाषा कवि-तुलनाप्रणाली भिन्नभाषा-कवि-तुलना प्रणाली एवं एक ही कवि की एक भाव वाली विभिन्न कविताओं की तुलना आदि इसके अनेक रूप हो सकते हैं। सफल अध्यापक इन विधियों के प्रसंगगत औचित्य का ध्यान रखते हुए तथा स्तरानुकूलता को भी दृष्टि से ओझल न करते हुए प्रयोग करते हैं। 'भाव-तुलना प्रणाली' विशेष रूप से उच्च एवं स्नातक-स्तर की कक्षाओं के स्तर पर अधिक उपयुक्त रहती है।

व्यास-प्रणाली : कथावाचक व्यासों के द्वारा अपनाई जाने के कारण इसको व्यास-प्रणाली कहते हैं। व्याख्या-प्रणाली का यह विस्तृत रूप है। इसमें अध्यापक विस्तार के साथ, भाव, शैली तथा काव्य की विशेषताओं आदि को स्पष्ट करने के लिए अन्तर्कथाओं, उदाहरणों तथा दृष्टान्तों का प्रयोग करता है, एक-एक पद के विभिन्न अर्थ व प्रसंग आदि बताता है, तथा कवि के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करता है। इस प्रणाली से शिक्षण करने वाले अध्यापक का ज्ञान भी अपेक्षित विस्तृत होना चाहिए। यह प्रणाली उच्च माध्यमिक कक्षाओं के ऊपर की कक्षाओं की दृष्टि से कहीं अधिक लाभप्रद है। यों तो छात्रों की रुचि, स्तर, ग्रहण-शक्ति आदि की सीमाओं को ध्यान में रखते तथा समुचित सतर्कता बरतते हुए, माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक कक्षाओं में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

) **समीक्षा-प्रणाली :** इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक कविता को आलोचना के सिद्धान्तों की कसौटी पर कसा जाता है। कविता के गुण-दोष की विवेचना करने में छन्द, अलंकार, रस, शैली, बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व आदि सभी उपकरणों की जाँच व मूल्यांकन करने में अध्यापक विद्यार्थी का सहायक बनता है। वह छात्रों की रचनाओं से सम्बन्धित आलोचनात्मक ग्रन्थों आदि के बारे में भी मार्ग-दर्शन करता है। यह प्रणाली उच्चमाध्यमिक एवं स्नातक-स्तर की कक्षाओं में उपयुक्तता के साथ अपनाई जा सकती है। इतना अवश्य है कि माध्यमिक स्तर पर इसका प्रयोग करते हुए अध्यापक को, ऊपर व्यास-प्रणाली के सम्बन्ध में सावधानी तथा सतर्कता बरतने के बारे में जो कुछ कहा गया है, उसका भी ध्यान अवश्य रखना होगा।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कविता-शिक्षण वस्तुतः एक कला। विभिन्न सिद्धान्त, प्रणालियाँ व विधियाँ गौण रूप से उद्देश्य-पूर्ति की मार्ग-दर्शिका हैं। साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। कविता के अध्यापक को वही प्रणाली अपनानी चाहिए जो विता-शिक्षण के उद्देश्यों की पूर्ति करने में सर्वाधिक सक्षम हो, जिससे पाठक को कविता साक्षात्कार व सौन्दर्यानुभूति में सर्वाधिक सहायता मिले, वह आनन्द-विभोर हो उठे र समान कक्षा में काव्यमय वातावरण छा जाय। ये ही वे अपेक्षाएँ हैं जो कविता-क्षण के प्रसंग में सर्वाधिक रूप से ध्यान-योग्य हैं। उनके सम्बन्ध में प्रतिपादित विविध द्धान्त और प्रणालियाँ उनको बन्धन में डालने के नहीं वरन् उनके कार्य में सुविधा प्रदान करने के साधन हैं।

अस्तु, अनुभवी अध्यापक को चाहिए कि वह इन सभी प्रणालियों को अंगीकार ले और उनका जो रूप उसे उपयुक्त लगे उसे अपनाये। ध्यान यह रहे कि कविता शिक्षण की कला कुण्ठित न होने पाए। उसके रसास्वादन व उसकी सौन्दर्यानुभूति में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आने पाये। कक्षा में सरस व मृदुल काव्यमय वातावरण सर्वदा अनवरत रूप से विद्यमान रहे।

"Poetry teaching is like love-making, each teacher must do in his own way——that teaching poetry is like life, that we can lay down a few main Principles that ought to be followed, but that method of applying these Principles varie with the class, the poem and the teacher".

— Haddow

[illegible] करें ?

इन ध्वनियों में भी स्वर-ध्वनियाँ व व्यंजन-ध्वनियाँ दोनों का ही उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। बहुत से अध्यापक [illegible] 'छोटी इ', 'बड़ी ई' [illegible] कर दूसरों को सिखाते हैं, [illegible] 'इ' और 'ई' की [illegible] है। इसी प्रकार 'उ ऊ', 'ए ओ', [illegible] है। [illegible] — अनुचित ध्वनि-शिक्षण।

कुछ ध्वनियाँ विदेशी भाषा से भी हिन्दी में आई हैं। उनका सही उच्चारण [illegible] भी स्वयं अध्यापक का [illegible] आवश्यक है। [illegible] आदि के उच्चारण [illegible] जिन्हें स्वयं अध्यापक [illegible] शुद्ध रूप में बोलकर सीख लेना चाहिए।

भाषा की मूल ध्वनियों के पश्चात् संयुक्ताक्षरों की ध्वनियों को भी [illegible] से सीखना व सिखाना चाहिए। अध्यापक को यह भी [illegible] प्रकार समझाना [illegible] यदि संयुक्ताक्षर शब्द के प्रारम्भ में है तो उसका उच्चारण कैसे होगा और यदि शब्द के अन्त में है तो कैसे होगा। 'स्तुति' कहीं 'इस्तुति' न बन जाए व 'मौक्तिक' 'मौकितक' न बन जाएँ।

एक बात और। भाषा-ध्वनियों के लिखित रूप की भी समुचित पहचान [illegible] है। छात्र 'ख', 'श', 'क्ष', 'ध' आदि संयुक्ताक्षरों को ठीक से पहचानें व फिर इन्हें शुद्ध रूप में उच्चरित करना भी सीखें।

भाषा-ध्वनियों के उच्चारण में वाक्-प्रणाली के विभिन्न अंग काम में आते हैं। इन सबका सही ज्ञान हिन्दी भाषा के शिक्षक को होना चाहिए। तत्पश्चात् छात्रों को वे उच्चारण स्थान बता दिए जाएँ व उनका सही उच्चारण भी करवाया जाए।

मात्र सिद्धान्त-शिक्षण से सही उच्चारण नहीं आ सकता। इसके लिए जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वयं शिक्षक का उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। यदि अध्यापक स्वयं 'विशेष', 'क्षत्रिय', 'स्कूल', 'अभीष्ट', 'अनुसार', 'अनुकूल', 'ऐच्छिक', 'कृष्ण', श्रवण आदि शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं करता है तो उस अध्यापक द्वारा पढ़ाए गए छात्र भी 'वीसेस', 'खत्रिय', 'इस्कूल' 'अभीसट' 'अनूसार' 'अनूकुल', 'एच्छिक', 'क्रस्ण', 'करसण' जैसे अशुद्ध उच्चारण करेंगे। अध्यापक का उच्चारण कक्षा में आदर्श होना चाहिए। इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अनुस्वार एवं विसर्ग के उच्चारणों को केवल सिद्धान्ततः बता देना छात्रों के लिए निरर्थक सा रहेगा। यदि अध्यापक स्वयं इन स्वरों के बोलने में अन्तर नहीं कर पाएँ तो फिर वे अपने छात्रों से कैसे आशा कर सकते हैं कि वे शुद्ध उच्चारण कर पाएँगे।

दुर्भाग्यवश अशुद्ध उच्चारण की नींव प्राथमिक कक्षाओं में ही पड़ जाती है। प्रारम्भिक कक्षाओं में ही शुद्ध उच्चारण के अभ्यास की नितान्त आवश्यकता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आगे इस ओर ध्यान दिये जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है

कि आगे इस बारे में कुछ किया ही नहीं जा सकता। सुधार की आशा या प्रयत्न छोड़ना भाषा-शिक्षक के लिए किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

अतः भाषा-शिक्षक की ओर से उच्चारण-शुद्धि का प्रयत्न निरन्तर चलते रहना चाहिए। यदि किसी भाषा-शिक्षक का स्वयं का उच्चारण ठीक नहीं है या किसी स्वर या व्यंजन का उच्चारण वह ठीक से नहीं कर पाता तो उसे ईमानदारी से उसे स्वीकारना चाहिए व उच्चारण-शुद्धि में श्रव्य-दृश्य साधनों का सहारा लेना चाहिए। श्रव्य साधनों में भाषा सम्बन्धी रिकार्ड बहुत सहायक हो सकते हैं। इनसे शुद्ध उच्चारण की सामग्री सुरक्षित मिल जाती है व छात्रों के सम्मुख जब चाहे तब प्रस्तुत की जा सकती है। अन्य सामग्रियों में रेडियो व चित्रपट से प्राप्य सहायता का उल्लेख किया जा सकता है। रेडियो द्वारा शुद्ध उच्चारण सम्बन्धी पाठों का योजनाबद्ध रूप से आयोजन किया जा सकता है। ऐसा न भी सम्भव हो तो रेडियो पर शुद्धोच्चारणयुक्त भाषणों आदि के सुनने से भी उच्चारण-शुद्धि में बहुत सहायता मिलती है।

भाषा-प्रयोगशालाएँ :— ये उच्चारण-शुद्धि में बहुत सहायक होती हैं। इनमें छात्र व शिक्षक दोनों ही समानरूप से लाभान्वित हो सकते हैं, पर ये विभिन्न शालाओं में न तो व्यापकरूप में आज उपलब्ध हैं और न ही निकट भविष्य में ऐसी आशा की जा सकती है।

टेपरिकार्ड :— उच्चारणशुद्धि में ये भी अत्यन्त सहायक हैं। अच्छे अच्छे विद्वानों के भाषण या उच्चारण सम्बन्धी पाठ भी इनके द्वारा छात्रों के सम्मुख प्रस्तुत किए जा सकते हैं। स्वर व व्यंजनों के शुद्ध उच्चारण 'टेप' पर अंकित कर लेने चाहिए व फिर उन्हें कक्षा में प्रस्तुत कर छात्रों से उन ध्वनियों का अनुकरण करने के लिए कहा जाना चाहिए।

इन बाह्य साधनों की सुलभता की स्थिति में उनका भी प्रयोग शिक्षक कर ही, किन्तु जब और जहाँ वे उपलब्ध न हों वहाँ भी असहाय होकर तो उसे नहीं ही बैठना है। अपने उच्चारण में आत्मविश्वास की स्थिति में यदि अपनी कक्षा के किसी विद्यार्थी या विद्यार्थिनी में शुद्धोच्चारण का यह गुण मिले तो उसे इस उपलब्धि के कुशल और सतर्क प्रयोग में भी संकोच नहीं करना चाहिए।

अध्यापक कक्षा में अपने छात्रों को उच्चारण के अधिकाधिक अवसर प्रदान करे। साथ ही उच्चारण में कमजोर छात्रों को और भी अधिक अवसर दे। हाँ, यह अवश्य ध्यान रहे कि छात्रों पर इसका प्रतिकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव न पड़े। कक्षा में अधिक अव-सर प्रदान करना ही वर्तमान में उच्चारण-सुधार का सबसे उत्कृष्ट साधन है। अनुच्चरित उच्चरित शब्दों का श्यामपट्ट पर लिखकर शुद्धरूप से उच्चरित करवाने का पूर्ण प्रयत्न करवाना चाहिए।

अध्यापक को भाषा के विभिन्न स्वरों व व्यंजनों का उच्चारण करने के लिए कहना चाहिए व जिन जिन स्वरों या व्यंजनों का जिन छात्रों द्वारा अशुद्ध उच्चारण किया

[illegible] के उन कारणों के [illegible]
शब्दों को ठीक उच्चारित करने के लिए [illegible] प्रयत्न किए जा सकते हैं। [illegible] शुद्धोच्चारण-पूर्वक बोलने के [illegible] में वृद्धि [illegible] बोलने की [illegible] उच्चारण-शुद्धि [illegible] 'प्रायोजना' का [illegible] उद्देश्य [illegible] की पूर्ति के लिए [illegible] उपलब्धि की ओर भी [illegible]।

शब्दों के उच्चारण पर क्षेत्रीय भाषा का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। [illegible] के छात्र प्रायः 'स्कूल' का उच्चारण 'इस्कूल' जैसा करेंगे। 'हनुमान' का उच्चारण अधिकांश भोजपुरी 'हड़ुमान' करेंगे। अध्यापक ऐसे शब्दों की सूची बनाकर [illegible] के अनुसार उनके सही सही उच्चारण का अभ्यास कक्षा में करवाते रहें तो धीरे धीरे ये उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियाँ दूर हो जाएँगी।

शब्दों के यथावश्यक उच्चारणाभ्यास के प्रसंग में उन्हें अक्षरों (सिलेबल्स) में विभाजित कर उनको ठीक ठीक बोलने का अभ्यास करवाना चाहिए। कभी कभी अक्षर-विभाजन का ज्ञान न होने से भी अशुद्ध उच्चारण की स्थिति बन जाती है यथा 'उपन्यास' का अक्षर-विभाजन इस प्रकार होगा :— उ-पन्-न्यास, न कि 'उप-न्यास।'

उच्चारण में बलाघात भी महत्त्वपूर्ण है। बोलने में प्रत्येक शब्द पर समानतया एक सा बल नहीं दिया जाता। समग्र वाक्योच्चार के प्रसंग में शब्द-शब्द की स्थिति-भिन्नता भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है:—यथा (१) वे परसों यहाँ आएँगे, (२) वे परसों यहाँ आएँगे—ये दोनों वाक्य एक जैसे प्रतीत होते हैं पर एक में 'वे' पर और दूसरे में 'परसों'

र बल दिए जाने से वाक्य के संकेतित अर्थ में अवश्य अन्तर आ गया है। गलत शब्दपर बल देने से कहने वाले का आशय ही बदल जाता है।

विराम-चिह्नों का उचित प्रयोग भी समुचित समग्र वाक्योच्चार में बहुत सहायक होता है। इन चिह्नों का ठीक अभ्यास न होने से भी कई बार समग्रोच्चार के सही रूप तथा सही भाव-संकेतों में बाधा आ जाती है।

एक उदाहरण में — (१) वह आ गया। (२) वह आ गया ? (३) वह आ गया !

विभिन्न विरामचिह्नों के आधार पर ही पढ़ते समय इन्हें विभिन्न उच्चारणक्रम से पढ़ा और तदनुसार उनके सम्बद्ध अर्थ को समझा जा सकेगा।

कविता का वाचन :— कविता में शब्दों के उच्चारणक्रम का स्वरूप गद्य के सामान्य उच्चारण-क्रम से कुछ भिन्न होता है। कविता में 'खड़ीबोली' यथा मत्तगयन्द सवैया आदि में दीर्घ मात्राओं को ह्रस्व की तरह उच्चरित करना पड़ता है। ऐसा छन्द की लय के अनुसार होता है। उच्चारणाभ्यास की अपनी समग्र योजना के अन्तर्गत भाषा के अध्यापक को कविता-वाचन के समुचित अभ्यास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस अपेक्षा को भी सम्मिलित करना चाहिए।

सन्धि का ज्ञान भी उच्चारणाभ्यास में सहायक होता है। बालकों को शब्दों की सन्धि का ज्ञान न होने से वे उच्चारण में भी अशुद्धि कर देते हैं। जैसे एक शब्द में — 'ज्ञानोपार्जन।' इसका सन्धि-विच्छेद होगा—ज्ञान + उपार्जन। इसका ठीक ज्ञान न होने की स्थिति में छात्र इस शब्द का उच्चारण ज्ञानोपा-र्जन की तरह भी कर सकते हैं।

इसी प्रकार उपसर्गों व प्रत्ययों का ज्ञान भी ठीक ठीक उच्चारण में सहायक होता है, यथा 'सुरक्षित' शब्द का ठीक उच्चारण 'सु--रक्षित' है, न कि सुर--क्षित। इसी प्रकार 'अनुगमन' का उच्चारण 'अनु--गमन' ठीक है न कि अनुग--मन। अतः उपसर्ग व प्रत्ययों का ठीक ठीक ज्ञान और उनके ज्ञान व ध्यान सहित उच्चारणाभ्यास की बात भी शिक्षक की सन्दर्भविषयक शिक्षण-योजना का एक आवश्यक अंग बनेगी।

'विषय पर संवाद' व छात्रों की रुचि भी उच्चारण-शुद्धि का उपाय है। संवाद में पात्रानुकूल भाषा बोलनी पड़ती है और दर्शकों के समक्ष उनके भावानुरूप भंगिमा का भी उपयोग प्रभावकारी हो सकता है। इस प्रकार के प्रसंग बोलने व वाचन करने के प्रकार [illegible] स्पष्ट-पूर्वक, जो कुछ अभ्यास भी समुचित और शुद्ध उच्चारण के रूप सब सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार भाषण का प्रयोग भी उच्चारण-शुद्धि में सहायक होता है। इसके लिए जब सब छात्रों को अपने किसी भी मनवांछित विषय पर बोलने के लिए कहना चाहिए। इससे भाषा के स्वरूप और शब्दगत प्रयोग में उचित गति के साथ साथ शुद्ध उच्चारण के अभ्यास को भी एक सुन्दर और सुदृढ़ आधार प्राप्त हो सकता है।

संक्षेप में, प्रस्तुत समस्या के ये वे कुछ पक्ष हैं, जिन पर दृष्टि रखकर तथा यथासमय उनके लिए उचित समायोजन कर शिक्षक अपने छात्रों के शुद्ध और प्रभावी उच्चारणाभ्यास में सहायक हो सकता है।

यदि भाषाशिक्षक स्वयं अध्ययनशील और विचारशील है, यदि वह छात्रों की उच्चारण सम्बन्धी अशुद्धियों का पूरा लेखा-जोखा रखता है, यदि वह अपना स्वयं का उच्चारण शुद्ध रखने का प्रयत्न करता है और यथास्थिति तथा यथावसरानुकूल वे उच्चारण शुद्धि के अन्यान्य उपाय भी काम में लाने के लिए तत्पर रहता है तो कोई कारण नहीं कि उसके छात्रों के उच्चारण में वांछित सुधार क्यों न हो।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही अपना विश्वास प्रकट किया है, उच्चारण की शुद्धि में संक्षेपतः 'अभ्यास' एवं 'अध्यापक' की भूमिका का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कार्य कठिन है और वह निरन्तर परिश्रम, सावधानी एवं मनोयोग की अपेक्षा रखता है, पर जो शिक्षक भाषा-शिक्षक बने हैं, वे भाषा के शुद्ध प्रयोग (शुद्धोच्चारण जिसका एक अन्तरंग पक्ष है) के समुचित शिक्षण विषयक गुरुतर भार से मुक्त कैसे हो सकते हैं ? फिर मैं तो इसे भार न कहकर एक पवित्र कर्तव्य ही कहूँगा जिसे न कर कोई भी भाषा-शिक्षक अपने आपको अपने कर्तव्य से च्युत ही करता है।

संस्कृत भाषा शिक्षण : समस्या और समाधान

—निहालसिंह शर्मा

संस्कृत भाषा से प्रत्येक भारतीय नागरिक का रागात्मक सम्बन्ध है क्योंकि यह भाषा उसकी अपनी मातृभाषा की भी जननी है। कोई भी आधुनिक क्षेत्रीय भाषा संस्कृत के प्रभाव से बचा नहीं है। संस्कृत भारतीय संस्कृति, दर्शन, धर्म, कला और राष्ट्रीय एकता का मूल स्रोत है। ऐसी भाषा का अध्ययन-अध्यापन अनिवार्य होना ही चाहिए। किन्तु इसके अध्ययन-अध्यापन के विषय में स्थूलरूप से निम्नांकित आलोचनायें सुनने को मिलती हैं, जिन पर यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना उचित होगा —

(१) समाज का एक वर्ग संस्कृत भाषा के अध्ययन को निरर्थक मानता है। इसका कथन है कि संस्कृत भाषा एक मृत भाषा है। आज के जगत में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। इसके अध्ययन से बालकों में संकुचित दृष्टिकोण उत्पन्न होता है। इससे बालक व्यावहारिक नहीं बनते। संस्कृत भाषा को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाना बालकों पर अनावश्यक भार डालना है। फिर इससे बालकों में रूढ़िवादिता, संकीर्णता और साम्प्रदायिकता ही उत्पन्न होती है।

(२) संस्कृत का शिक्षण करने वाले अध्यापकों का कथन है कि जो इच्छुक

प्रशिक्षण-संस्थाओं में दिया जाता है वह उचित नहीं है, क्योंकि जिन बातों पर वहाँ बल दिया जाता है, उनकी पूर्ति विद्यालयी परिस्थितियों में सम्भव नहीं है। समय और कक्षा में बालकों की संख्या देखते हुए नवीन विधियों द्वारा पढ़ाना सम्भव नहीं है क्योंकि पाठ्यक्रम अधिक है और समय बहुत कम मिलता है। नवीन विधियों के प्रयोग से शिक्षण में बनावटीपन आ जाता है। समयाभाव-वश पाठ्य-सकेत-योजना तैयार नहीं हो सकती। जो सहायक सामग्री वहाँ आवश्यक बताई जाती है, वह वहाँ शालाओं में उपलब्ध ही नहीं है और न प्रशासक शालाओं में इसकी व्यवस्था ही करते हैं।

(३) पुरानी परिपाटी के पण्डितों का कथन है कि आधुनिक महाविद्यालयों में शिक्षित-दीक्षित संस्कृत के स्नातक और अधिस्नातक वास्तव में संस्कृत-ज्ञान-शून्य होते हैं। उन्हें व्याकरण का कोई ज्ञान नहीं होता। फिर वे संस्कृत के कुशल अध्यापक कैसे हो सकते हैं ?

(४) इधर छात्रों से बात करें तो पता लगता है कि संस्कृत के प्रति उनकी भी रुचि कम है। कारण स्पष्ट है कि विभिन्न भाषाओं के सीखने के क्रम में संस्कृत-भाषा का नम्बर मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और वैदेशिक या अन्य क्षेत्रीय भाषा सीखने के पश्चात् आता है। उन पर पहले ही अन्य भाषाओं के सीखने का भार पड़ जाता है। फिर संस्कृत के लिये उनके पास समय ही कहाँ रह जाता है ? इसके उपरान्त विषय की जटिलता उनकी अरुचि का एक और कारण बनती है। फिर उसमें व्याकरण-ज्ञान की गहनता, वाक्यों की दुरूहता, रूपों की भरमार, सन्धियों का जाल और नवीन विषय-सामग्री का अभाव उनकी अरुचि को और अधिक बढ़ाने में सहायक होता है। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत के अध्यापकों का क्या कर्तव्य होना चाहिए और किस प्रकार इन आलोचनाओं एवं वास्तविकताओं के बीच उन्हें अपना उचित मार्ग प्रशस्त करना चाहिए यह विचारणीय है।

प्रथम वर्ग के आलोचकों के बारे में कुछ विशेष नहीं कहना है क्योंकि इस कोटि में वे लोग आते हैं जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन ही नहीं किया है या जिन पर वैदेशिक भाषाओं का अधिक प्रभाव है। जिन्होंने मधु को चखा ही नहीं, वे मधु के स्वाद के बारे में क्या कह सकते हैं ? क्योंकि उन्हें पता नहीं कि हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी ४० से ८० प्रतिशत तक शब्द-भण्डार संस्कृत से ही लिया गया है। अपने अज्ञानवश ही वे इसे मृतभाषा मानते हैं। उन्हें पता नहीं कि आधुनिक तकनीकी शब्दों का निर्माण भी संस्कृत भाषा के शब्द-भण्डार से हो रहा है। तब यह मृत भाषा कैसे है ? आज भी भारतीय समाज के एक बहुत बड़े वर्ग में जन्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और मृत्यु-पर्यन्त अन्य सभी संस्कारों में भी संस्कृत का ही प्रयोग होता है। चित्रकला, नाट्यकला, वास्तुकला, मूर्तिकला तथा अन्य ललित कलाओं का संस्कार-परिष्कार संस्कृत द्वारा ही हो रहा है। धर्म, दर्शन, राष्ट्रीयता और भाषा-विज्ञान, चिकित्सा एवं ज्योतिष के क्षेत्र में संस्कृत अब भी हमारा मार्गदर्शन करती है। अनुसन्धान के क्षेत्र में भी कई ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें तब तक यह कार्य टकसाली नहीं कहा जा सकता जब तक कि यह संस्कृत ज्ञान की आधार-शिला पर आधारित न हो। आज संस्कृत के माध्यम से लगभग एक लाख पुरोहित
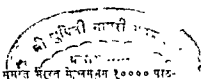
अपनी आजीविका चलाते है। संस्कृत के माध्यम से समस्त भारत में लगभग १०००० पाठशालाओ मे अध्ययन-अध्यापन होता है और अनेक पत्र-पत्रिकाएँ संस्कृत मे निकल रही हैं। यहाँ तक कि कुछ दैनिक समाचार-पत्र भी उसमे निकल रहे है। फिर भी कोई इसे मृत-भाषा कहे तो उसकी बुद्धि की बलिहारी है। संस्कृत की उपयोगिता से मुँह नही मोड़ा जा सकता। इस विषय मे श्री के० एम० मुन्शी के ये विचार निस्सन्देह मननीय हैं .— "For over 3500 years, it (Sanskrit), has been the Language of India' sreligion, philosophy and culture, the source of inspiration for her intellectual and aesthetic achievements; the great instrument of establishing unity through out the land".

संस्कृत-आयोग के शब्दो मे— "Ideological exclusiveness and prosecution of men just because of the particular ideas held by them are totally foreign to the spirit of India as it has been moulded by her philosophy And this philosophy of India is enshrined in Sanskrit."

"इस भाषा के पढ़ने से बालको मे संकुचित दृष्टिकोण उत्पन्न होता है और वे व्यावहारिक नही बनते", यह कथन भी सर्वथा मिथ्या है। पता नही किस आधार पर आलोचक जन ऐसा आरोप प्रस्तुत करते हैं। श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, श्री राधाकृष्णन्, श्री पतञ्जलि शास्त्री प्रभृति विद्वान क्या संस्कृतज्ञ नही थे ? क्या उनका दृष्टिकोण संकुचित था ? मैं नही समझता कि संस्कृत के अध्ययन के कारण व्यावहारिकता मे किसी भी प्रकार की कमी आती है। न इससे रूढ़िवादिता आती है, न किसी प्रकार की संकीर्णता और न अव्यावहारिकता। इसके विपरीत, यह तो जीवन को सर्वाधिक रूप मे अनुशासित और सुसंस्कृत करती है।

(२) दूसरा वर्ग जो संस्कृत-अध्यापन का कार्य भी करता है और प्रशिक्षण की आलोचना भी करता है, वह 'अधकचरा' वर्ग है। उन्हे संस्कृत भाषा एवं शिक्षण-विधियों का ज्ञान तो है किन्तु उनकी परिपक्वावस्था नही है। उनका प्रथम कथन यह है कि शिक्षण-महाविद्यालयो मे जो बाते बताई जाती है वे उच्चादर्श ही बनकर रह जाती है, उनका पालन वास्तविक परिस्थितियो मे नही होता। हम नही समझते कि प्रशिक्षण-महाविद्यालयो मे ऐसी कौनसी बाते है, जिनका पालन संस्थाओ मे नही हो सकता। यदि इकाई-योजना के आधार पर पाठ-संकेत तैयार करवाकर केवल बीस पाठ दिलाये जाते है। योजना बनाना क्या बुरा है ? जो पाठ्य-वस्तु आप पढ़ाने जा रहे है उसके उद्देश्यो, विधियो एवं आवश्यक सहायक सामग्री को पहले ही स्पष्ट कर लेना क्या बुरा है ? एक बार बनी योजना कई वर्षों तक काम दे सकती है। पाठ-संकेत भी दो प्रकार के बनवाये जाते हैं। पहले विस्तृत पाठ-संकेत और फिर संक्षिप्त पाठ-संकेत। विस्तृत पाठ-संकेत

[illegible] शिक्षण के लिए होते हैं जिनसे कि [illegible] सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को भी स[illegible]
मझें और साथ ही सीमित पाठ्य-योजना बनाई जाती है, जिसमें उद्देश्य, विधियाँ, पाठ्यांश
के अध्यापन-बिन्दु एवं मूल्यांकन विधि का संक्षिप्त विवरण रहता है, जो प्रायः एक पृष्ठ [illegible]
अधिक नहीं होता। यदि योजना बनाई भी ही बहुत मात्रा [illegible] तो मात्र की [illegible]
वर्षीय योजनाओं के निर्माण एवं कार्यान्वयन को भी स्वीकार कर देना चाहिए। शिक्षण-विधि
में भी कोई कठिनाई नहीं है। जहाँ जैसा अवसर हो वहाँ वैसी ही विधि का प्रयोग कर[illegible]
कक्षा का स्तर, बालकों की संख्या, पाठ्य-वस्तु, सामग्री की उपलब्धि आदि को ध्यान में रखते हु[ए]
ही किसी सुगम शिक्षण-विधि या विधियों का उपयोग किया जा सकता है। शिक्षण विधियों [का]
उपयोग विषय को समझने, उसे सरल बनाने और बच्चों को अधिक प्रभावशाली ढंग से स[म]
समझाने के लिये होता है, न कि पाठ्यक्रम को पूरा न करने बच्चों को ठीक से न समझाने या के[वल]
पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये। हम तो यही चाहते हैं कि अध्यापक एवं बालक [illegible] और
दोनों मिलकर लक्ष्य की पूर्ति करें। यह भी आवश्यक नहीं है कि अध्यापक सभी पढ़ने ज[ब]
उनके पास प्रोजेक्टर फिल्मस्ट्रिप्स या अन्य मूल्यवान सामग्री हो। अध्यापक की वा[णी]
और उसके हाथ की कुशलता उसकी सबसे बड़ी सहायक सामग्री है। अध्यापक में शिक्षण
विधियों एवं सहायक सामग्री के प्रति उचित दृष्टिकोण होना चाहिए, स्तर का ज्ञान होन[ा]
चाहिए और सबसे अधिक होनी चाहिए अपने कर्तव्य के प्रति आस्था। सभी सरल प्रय[त्]
न होगा। वरना 'न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी।' पाठ्यक्रम भी जो औ[र]
जितना रखा गया है, सोच विचार कर ही रखा गया है। समय भी सुनिर्धारित है। सं[स्कृत]
में माध्यमिक कक्षाओं के लिए निर्धारित (इस समय कोई पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें मा[त्र]
भर में पढ़ाने के लिये ३४ से अधिक पाठ रखे गये हों। उधर सत्र में ११० दिन सम्पू[र्ण]
अध्यापन के लिये निर्धारित हैं। औसतन तीन दिन में एक पाठ अच्छी प्रकार पूरा किय[ा]
जा सकता है। कक्षा नवम एव दशम में तो (इस समय निर्धारित पाठ्य-पुस्तकों के अनुसार)
केवल १७-१७ पाठ ही हैं। अत यह कहना कि पाठ्यक्रम अधिक है, मात्र मिथ्या धारण[ा]
है। प्रत्येक शिक्षण-विधि-विशेष को समय व परिस्थितियों के अनुसार काम में लाने की
चेष्टा की जाय तो वहाँ बनावटीपन नहीं आयेगा। सहायक सामग्री का जो आधार स्व[यं]
पुस्तकों में उपलब्ध है कम से कम उसका तो समुचित प्रयोग किया ही जा सकता है।
इसके अलावा 'श्यामपट्ट-प्रयोग' की कुशलता भी हर अध्यापक में होनी चाहिए। इस उद्देश[्य]
की पूर्ति के लिये भी प्रशिक्षण-संस्थाएँ पर्याप्त प्रयत्न करती हैं। 'मूल्यांकन' की नई धारणा
और उसका अनुसरण भी आज हमारे विद्यालयों के लिये कोई अजानी या अनहोनी बात नहीं
रह गई है फिर ऐसी कौनसी बातें रह गईं, जो केवल आदर्श बनकर रह जाती हैं?

संस्कृत-अध्यापकों की लक्ष्य कर प्रायः कही-सुनी जाने वाली यह बात कि "उनका
संस्कृत भाषा व व्याकरण का ज्ञान अपूर्ण होता है, इस कारण वे कुशल संस्कृत-अध्यापक नहीं
बन सकते" विचारणीय है। यह बात प्रायः वे लोग कहते हैं, जिन्होंने आरम्भ से ही संस्कृत पढ़ी

है, और संस्कृत के माध्यम से पढ़ी है। पर इसमें बुरा मानने की क्या बात है? आज के सामान्य महाविद्यालयों से निकले स्नातक संस्कृत को एकांगी विषय के रूप में पढ़ते हैं, अधिकांशतया वे उसे साहित्यिक दृष्टिकोण से पढ़ते हैं, न कि वैयाकरण या भाषा-वैज्ञानिक बनने के लिये। किन्तु माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक कक्षाओं को संस्कृत पढ़ाने की योग्यता उनमें भली प्रकार होती है, इसमें संशय नहीं। इतना ही नहीं, वे संस्कृत के साथ-साथ अन्य विषयों का ज्ञान भी अच्छा रखते हैं। इतने पर भी यदि संस्कृत के कुशल और सफल अध्यापन की दृष्टि से इन्हें इसके और भी गहनतर अध्ययन और अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है तो सतत-विद्यार्थी-भाव रखकर वे निश्चय ही उसकी भी प्राप्ति कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति अध्यापक बन जाने मात्र से यह समझने का अधिकारी नहीं हो जाता कि वह विषय का पूर्ण पण्डित है और उसे अब अधिक सीखने की आवश्यकता नहीं है। यदि अध्यापक अपने में कुछ कमी अनुभव करता है तो उसे सतत प्रयत्नशील रहना ही चाहिए। यह सामान्य अनुभव है कि संस्कृत के कुछ अध्यापक व्याकरण-ज्ञान में कुछ कमी व ठिठक अनुभव करते हैं। मार्ग स्पष्ट है। उन्हें अपना विद्यार्थी-भाव जारी रखना चाहिए। इसीलिये तो पाठ की पूर्व-तैयारी 'शिक्षक-प्रशिक्षण' के अन्तर्गत एक आधारभूत अपेक्षा मानी जाती है। जिस अध्यापक में विद्यार्थी-भाव नहीं, वह अध्यापक-पद के योग्य ही नहीं।

अन्तिम बिन्दु है, बच्चों पर तृतीय भाषा का भार एवं उनकी संस्कृत के प्रति अरुचि। व्यवहारवादी लोग मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा, राष्ट्रभाषा और वैदेशिक भाषा के पश्चात् 'सांस्कृतिक भाषा' को स्थान देते हैं। अतः बालकों के समक्ष इस बात को लेकर जो अभाव या विचार आ रहे हैं, वे प्रायः इसी प्रकार के हैं। फलतः वे संस्कृत को भारस्वरूप समझते हैं। किन्तु उनके 'अध्ययनक्रम में संस्कृत के स्थान की उचित स्थिति यही तो नहीं है। संस्कृत संस्कृति की भाषा है अतः मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा के पश्चात् स्थान उसे मिलना चाहिए। उसका महत्त्व वैदेशिक भाषा की तुलना में तो हर हालत में अधिक है। कई दृष्टिकोणों से यह राष्ट्रीय भाषा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण के वे लोग जिन्हें यदि हिन्दी सीखने में कोई झिझक भी है, संस्कृत सीखने को तैयार हैं। संस्कृत के पठन-पाठन से राष्ट्र की संस्कृति तो सुरक्षित रहेगी ही, राष्ट्रीय एकता की भी रक्षा होगी। दूसरे, भाषा-विज्ञान दर्शन, व्यवसाय, अनुसंधान और मानवीय गुणों को जितना बल संस्कृत से मिलेगा उतना किसी अन्य भाषा से नहीं। अतः बालकों पर इसका महत्त्व प्रकट करना चाहिए। भाषा की दुरूहता, व्याकरण के रूपों व नियमों की जटिलता एवं पाठ्य सामग्री की नवीनता तथा क्लिष्टता आदि का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह पाठ्यपुस्तक-लेखकों एवं निर्धारकों को लेकर है। पाठ्यसामग्री नवीन हो, वाक्य कक्षा-स्तर के अनुसार लघु हो, समास एवं सन्धियुक्त पदों का प्रयोग अपरिहार्य अवस्था में ही किया जाय, धातु-रूपों में अप्रचलित रूपों का परित्याग किया जावे,

तथा पुस्तकों को सचित्र, सुरुचिपूर्ण तथा आधुनिकतम साधनों से परिपूर्ण बनाया जाय तो इससे भी छात्रों की रुचि-वृद्धि में सहायता मिलेगी।

संस्कृत के अध्यापक, संस्कृत में रुचि रखने वाले विद्वान और संस्कृत-शिक्षण के क्षेत्र में कार्य करने वाले लेखक, प्रकाशक तथा अधिकारी आदि यदि सभी इन वास्तविकताओं पर विचार करें तो संस्कृत के अध्ययन अध्यापन को समुन्नत करने में निश्चय ही बड़ी मदद मिलेगी।

जो भारतीय जन संस्कृत का सम्मान नहीं करता, वह अपनी संस्कृति का अनादर करने का दोषी है।

देश का जो शिक्षक संस्कृत का अध्यापक है किन्तु उसके अध्ययन-अध्यापन के प्रति निष्ठावान नहीं है, वह आत्मद्रोही है, आत्मवंचक है।

How to teach words?

M. L Ranga

This aspect of the language teaching is important from the following view-points :-

A. Pronunciation and stress

B. Usage in the context.

C. Spellings.

The following procedures should be adopted by the teacher in the classroom :-

A Pronunciation and stress (The Biological Aspect)

1. The correct pronunciation alongwith its proper stress etc. should be ascertained from some standard dictionary[1] Such dictionaries must be made available in the school library

---

1 Everyman's English pronouncing Dictionary By DANIEL JONES. The English Language Book society Edition

The Advanced Learners' Dictionary of current English By Hornby & others. Oxford Publication.

Here one must guard one self against the general presumption. "I know its pronunciation and it must be 'this'. So it would be always educative for the teacher to check up each and every word that he or she has planned to teach viz. its pronunciation as well as correct and appropriate context before he or she goes to teach. It would be all the more useful for the teacher if he picks up the skill of transcribing the words phonetically in his diary or note-book. This will bring in more security and confidence.

2 After the pronunciation and stress etc. have been checked up, ascertained and ensured (the teacher himself should be able to pronounce it correctly), the hard spots viz. - peculiar vowel or the consonant sounds or sound clusters (as the case may be) should be spotted[1] out. This will enlighten the teacher about the specific learning points in the teaching items and he will employ economy in his approach by concentrating on the real points of teaching. Here is an example :-

Advertisement (ədvə : tismənt)
1 3 4 1 · 6 8 5

Here, not all the phoneme are peculiar or difficult to pronounce. The following spots need special attention :-

a) Vowel sounds 1, 4,[5] (ə) 3 (ɪ)

b) Consonant sounds 5 (v) 6 (s)

It is these hard spots that are to be analysed structurally by the teacher and emphasized by him in the class.

3. After this much has been ensured; the teacher should present the word in the following way :-

(i) He will write the actual word (not its phonetic transcription) himself, bringing out the correct stress and the class will listen[2]. There need not be any rigidity about the time to be devoted to

1. The structural patterns of various phonemes and their patterns in the two languages (mother-tongue and English) should be analysed to find out the comparison and contrast.

2. Better if the teacher underlines the hard spots on the B. B. This will bring in more concentration on the part of the class.

this activity. Only this much should be ensured that the class has got ample opportunity of listening to the correct pronunciation etc.

(ii) This should be followed by collective drill[1] Here the teacher will try to catch up the sound effects (given collectively by each group) and correct the wrong sound effects (vowels, consonants or stressing etc) if any, on the spot. He will do it by himself pronouncing the word again.

(iii) Finally, individual students should be asked to pronounce the word Here it will be more educative if the teacher starts with the bright boys and finishes with the weaker ones This will bring in them confidence and help them learn.

B. USAGE

Let us not forget that words torn out of context are like the fish taken out of water. So the words, to be taught and learnt effectively, must be used in their proper context A few points to be noted here, are :—

1. The teacher will ascertain the contextual implicationsof of the word. This, he can do, by going through the exercises given at the end of each lesson A current dictionary[2] can also be very useful for guidance.
2. Next he should refer to the list[3] to which the word belongs viz- of active vocabulary or passive vocabulary In case the word falls in the former one, it should be taught from usage point of view In the latter case, simply knowledge of the meaning of the word is desired This is essential for introducing economy

1. The class may be divided in 4 or 5 smaller groups. Each group should speak out in its turn while the other group listen This will help in ascertaining the correct reproduction.
2. The Advanced learners' dictionary of current English. Modern English usage By Fowler.
3. Board of Secondary Education, Ajmer brochure-'words and structures'.

3 Now comes the presentation of the word in context. The teacher will use the word in sentences, in proper context and the class will listen to the teacher. Here we should remember that each word, from contextual implications, belongs to a particular cult or category and the teacher will justify his job only when he can present it in that proper context. By way of example, here are four words :-

1 Congratulation 2. Dull 3. Advertisement 4. Mechanic.

PRESENTATION (PRACTICE IN LISTENING)

1 Congratulation :

(i) My friend Lalit has passed in B A. examination. I want to **Congratulate** him. I will send him a **telegram of congratulation.**

(ii) My uncle has won in the election. people are **congratulating** him He is receiving **letters of congratulations.**

Note :- As this word has a *structural bias i.e. suffix* formation, so it would be more effective to teach it in this context.

2. Dull :

(i) My younger brother is very **intelligent.** He can solve any question But my sister cannot solve simple questions. She is very **dull** in her studies.

(ii) An **intelligent** boy understands the things quickey A **dull** boy takes time.

Note :- It suits the classroom teaching *procedure to present* the word in contrasting contexts This helps better fixation according to the laws of learning, as well.

3. Advertisement :

Suppose you have opened a new shop. You sell books, exercise-books, pencils, nibs etc. You want that all the people in the city should know about this shop. They should buy things at your shop

What will you do for this ?

Students expected answers :

(i) I will take a mike and announce about the shop all over the city.

(ii) I will distribute the posters and pamphlets in the city.

(iii) I will request the cinemaman in the city and he will show slides in the daily shows.

(iv) I will give the news in the local papers.

Teacher : Now all these activities are called 'advertisements'. Now can you tell me any radio-station that does the work of advertisement ?

Naturally, the boys will come up with some famous names

e g Ceylon, Vividh Bharati, Pakistan etc

Teacher - So, these radio-stations broadcast advertisements also

Note - This word has got a 'concept' about it and so need a different type of presentation to develop proper understanding and use

4. **Mechanic :**

(i) My father knows how to repair a fan or a machine He can repair any machine He is a good **mechanic.**

(ii) My elder brother does not know how to repair a machine He is not a **mechanic.**

Note - This is a word that has a substitution utility So it would be taught in a way that the longer sentence can be made shorter by substituting the word.

In view of the above presentation, the following points need attention --

1 Every word belongs to a type or class of its own This is what we mean by **'CONTEXT'**

2 Presenting the word in right context will help understanding and save time and energy.

3 Presenting the words by way of 'using in context always is not the only technique **Conversation technique can also be employed for a change and better learning**

PRACTICE IN SPEAKING

Active role of the students starts here. The success of the teacher in getting encouraging response at this stage directly depends on the following two points :-

(i) The time that the teacher devoted to its presentations

(ii) The device that he employs at this stage.

To elucidate the point No. (ii), let us think aloud and give an illustration Suppose there are three teachers before us and each proceeds as follows :-

The first teacher .

Boys, now use the word in a sentence

(No boy comes up.)

Teacher— Mohan, use it

Sohan, you can use it.

(All heads down.)

Two boys (The intelligent ones) are sitting with their hands raised. The teacher asks them to use the word. They do it, of course The teacher feels satisfied and proceeds with the next word, believing that the class is able to use the word when actually the fact is otherwise.

The second teacher starts like this :

Suppose your friend has passed in first division. You want to congratulate him. What will you do ?

A better response is expected. Then the teacher can ask individually :

Teacher— Mohan, will you go to meet him at his house ?

Mohan — Yes, sir

Teacher— What will you do there ?

Mohan — I will congratulate him.

Teacher : Now speak this sentence again like this :—

'I will give him ————'

The teacher will guide and see that all the students are able to use the word correctly

The Third teacher :-

To start with, he writes the following sentence on the B. B.—

'I want to congratulate my friend I will send him a letter of ....

The response in this case will be much improved and the weaker boys will also feel encouraged

On analysing the three approaches, one finds that the first teacher did not visualise the difficulties that the boys have to overcome while responding The points involved in the speaking skill are :-

1. finding out the context (situation)
2. finding out English equivalents for it
3. Syntax (putting in order).

This analysis of the response shows that the first teacher expected too much from his class (that is generally weak) and so he got stuck up. The second and the third teachers were able to visualise the difficulties and tried to control and minimise them gradually for the class Accordingly they were on a more secure footing.

The purpose behind manipulating this imaginary situation is that many teachers take this leap (as in case of teacher No 1) and begin to lose faith in the pedagogy On the other hand, at this stage, the teacher should be wise enough to employ a number of devices, keeping in view the standard of the class as a whole and also that of the individual students. Some of these devices are :-
1. Questions aud answers. 2. Filling in the blank exercises 3. Word substitution tables

A few words about the meaning of the word to be taught Let us not forget that knowledge of the meaning of the word is not knowing its use and hence it is not language So, equivalents (Hindi or English) may be given, but these are no substitute for the usage, especially in the case of words from the active vocabulary list Even when the teacher wants to give the words 'equivalent' he should give the 'correct' one, and nothing short of it. Let him ascertain and ensure

should be tested, and that too in proper contexts and not in isolation Here are a few examples :-

1 Fill up the missing letters :

(i) I have received a letter of congratula ...... from my friend. (ii) Here is an advertism . . . for lottery.

2 Fill up the word opposite to the one underlined -

(i) My younger sister is very .... but my brother is dull

3. Fill up the correct form of the word underlined -

(i) Here you find many **industries** running It is an ....area

4. Fill up one word for the portion underlined -

(i) Inder, my friend, **knows how to repair machines** He is a good.............

SUMMARY :

1 Categorise the words according to their contextual implications

2 Ensure its pronunciation etc and give the class ample practice in that.

3. Present the word in proper context Let the class have ample practice in listening to its use. Use mothertongue wherever 'essential'.

4. Get the word used by the class individually Apply various devices - simple or difficult- according to the standard of the class Replace the simpler ones by difficult ones gradually as the students begin to catch up and feel encouraged.

5 Ensure that the class has learnt the spellings as well

6. Test the student achievement through suitable exercises

●●●

A Social Studies Teacher in his Class

- Mahar Chand Sharma

What is good Teaching :

Good and effective teaching is a combination of philosophy and methods Good teacher is one who can allow the kite of philosophy to fly freely in the sky and pull it with ease within the four walls of classroom teaching It is impossible to be a good teacher of Social Studies without a grounding in the philosophical aspect of this subject. Again, unlike in other subjects, methods in Social Studies are not only themselves projections of social practices, but in time they are supposed to project themselves in the social practices of society In short, good and effective teaching in social studies demands constant study (and relevant study at that) of the philosophy

, in the context of its past history
f the world How the two correlate
distant present, itself is a major

enuity and planning Though *correla-*
cessary to make a fetish of it Human
asp the inter-relatedness of things and
ill, it mus tbe cultivated as a discipline, a
o grasp the meaning of the old and the
resent and the immediate

a capacity develops, the teacher will have to
and devices to trace the present to the past.
out democracy for instance, one can proceed
r national parliament to the democratic assemblies
, country before feudalism became a political force.
ent to the past Again, our parliament can be correl-
t parliament. This achieves the objective of spatial

teacher is not to be unduly concerned with this side
We under-rate the power of the mind if we believe, that
ep guidance will lead the student from the present into the
f the e distant romantic lands We can leave
imagin e child

ctical

f the the class room :

In social studies, the use of text books is of
p ,, the teacher wants to refer to them for
show such charts and maps which are not easy

sses text books may be used for the purpose of

:sent day society in each land exists in the context of its past history d its contemporaries in the rest of the world How the two correlate : present with the past, and the distant present, itself is a major oblem to the teacher.

This calls for lot of ingenuity and planning Though correla-n is essential, yet it is not necessary to make a fetish of it Human nd is versatile enough to grasp the inter-relatedness of things and see the part as wholes Still, it mus tbe cultivated as a discipline, a bit-that is, the capacity to grasp the meaning of the old and the itant in relation to the present and the immediate

But before such a capacity develops, the teacher will have to opt various techniques and devices to trace the present to the past.

In teaching about democracy for instance, one can proceed om the school and/or national parliament to the democratic assemblies uch existed in every country before feudalism became a political force is relates the present to the past Again, our parliament can be correl-d to the British parliament. This achieves the objective of spatial ationship

But the teacher is not to be unduly concerned with this side the problem We under-rate the power of the mind if we believe, that ly step by step guidance will lead the student from the present into the eam-land of the past or the distant romantic lands We can leave lot to the imagination of the child

ome practical hints.

. Use of the text book in the class room .

In the teaching of social studies, the use of text books is of tle help and value unless the teacher wants to refer to them for rious references, or to show such charts and maps which are not easy reproduce

In higher classes text books may be used for the purpose of

supervised study along with other relevant material.

3. Black Board :

Importance of black board work in the class is self evider As for B. B Summary, different teachers follow different techniqu suiting the students and the topic. It is however, always better write major points of the topic on the black-board and then build summary round those points

Some good teachers develop their lessons with the help black bord work, this is particularly suited to geography lessons. Ma and charts have their own importance, but such teachers compens well even if for some reason, they are not readily available.

3. Revision :

Final revision and black board summary can go together B it all depends on the nature of the topic.

4 Home work :

It would be a good departure if some times the home-work given to groups, so that students can contribute to each other's effor In such cases, it will be better to define the area of work of eac member of the group. The group may work under a leader or convener.

5 Establishment of school musium :

Students are fond of making collections of things They shou be encouraged to create picture galleries, Herbarium, engage in stam collecting and so on.

6 Dabates, meeting, seminars, symposia etc,

They should be organised suiting the age of the pupil. The activities prepare children for later-day participation into wider li of our democratic society

●●

भूगोल शिक्षण : कुछ छोटी-छोटी अपेक्षाएँ

—साँवलदान चारण

आजकल मैं दसवीं और ग्यारहवीं कक्षा के भूगोल के विद्यार्थियों की योग्यता पर किसको तरस नहीं आयेगा। भूगोल विषय का सम्बन्ध स्थानों से निश्चय ही है और रहेगा। पर यह भी सही है कि आधुनिक भूगोल 'अन्तरीप और खाड़ियों' वाला भूगोल नहीं है, जिसमें स्थानों के नाम और उनकी स्थिति की जानकारी ही सब कुछ हो। हाँ, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि जो बालक बम्बई को अफ्रीका में और अफ्रीका महाद्वीप को ग्रीनलैंड में बताए उसे भूगोल का न्यूनतम ज्ञान भी नहीं है, ऐसा ही कहा जायगा। सोचना यह है कि आखिर ऐसा क्यों?

पुस्तकों में पढ़ते हैं कि ९९% भूगोल नक्शों के द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है। तो पढ़ाने में भी वह ९९% नक्शों द्वारा प्रदर्शित की जानी चाहिए। किन्तु आज स्थिति यह है कि किसी छात्र के पास अव्वल तो नक्शा-कॉपी होगी ही नहीं और यदि होगी भी तो उठाकर देख लीजिए, क्वचित् ही कहीं नक्शे बने हुए मिलेंगे। प्रथम तो अध्यापकजी ही नक्शे भरने का कार्य देने का कष्ट नहीं करते और यदि करते हैं तो छात्र उसे करने का कष्ट नहीं करते, और कोई इसलिये करता है तो सफाई की दृष्टि से वे इतने कच्चे होते हैं कि उस कार्य में दक्षता आ नहीं पाती।

[illegible] पुस्तिका [illegible] है जिसमें भूगोल शिक्षण के उद्देश्य दिए हैं। प्रकरण-वार भी उद्देश्य दिए हुए हैं। मेरी जानकारी के अनुसार यह पुस्तिका बोर्ड द्वारा सब स्कूलों में भेजी जा चुकी है। उसमें एक उद्देश्य 'कौशल' का भी है। साधारण ज्ञान की बात है, सभी जानते हैं कि छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े कौशल को बनाने और विकसित करने के लिए कई [illegible] बार अभ्यास करने की जरूरत है। रोटी बेलना चाहे जितना सरल कौशल हो, पर उसमें भी दक्षता प्राप्त करने के लिए मालूम कितने अभ्यास की आवश्यकता है। कितना आटा बिगाड़ा जाता है और तब कहीं जाकर रोटी बेलना आता है। फिर हमारे पाठ्यक्रमकार इस साधारण से सिद्धान्त को भूल क्यों जाते हैं? एक बार नक्शा बनवाया और [illegible] लिए। मुझे ऐसा लगता है कि वह तो पाप करता है। यदि उद्देश्य इस कौशल म दक्षता लाना है तो कई-कई बार नक्शा बनाने की जरूरत है और वह पढ़ाते समय बार-बार नहीं भरने और बनाने का अभ्यास करवाया जायगा तभी छात्रों से उसमें दक्षता की अपेक्षा की जा सकती है। इसमें दो बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ—

१— भूगोल का प्रत्येक पाठ नक्शे पर प्रदर्शित किया जाय और करवाया जाय।

२— नक्शे की दक्षता तभी आयगी जब उसका खूब-खूब अभ्यास करवाया जायगा।

एक और बात बड़ी अखरती है। भूगोल के द्वारा छात्र के सोचने की क्षमता का विकास किया जाना भी एक उद्देश्य है। एक निश्चित आयु प्राप्त कर लेने के बाद तर्क-शक्ति विकसित होने लगती है। भूगोल को भी, अन्य विषयों की तरह ही, इसमें सहयोग देना चाहिए। और जब छात्र दसवीं-ग्यारहवीं में आ जाय तो उसका विचारना काफी तर्क-सगत हो जाना चाहिए। परन्तु देखिए नमूने—छात्र कहते हैं, "अमुक स्थान का जलवायु शुष्क व तर है।" क्या युक्तिसंगत बात कही है! मानो शुष्क व तर दोनों एक साथ हो भी सकते हैं! दूसरे, क्या जलवायु में केवल आर्द्रता का वर्णन ही वांछनीय है? 'वायु' का क्या होगा? जल के सम्बन्ध में तो कुछ कह दिया, चाहे अट पट ही हो, परन्तु वायु के सम्बन्ध में तो कुछ भी नहीं कहा। दूसरा नमूना देखिए— 'वहाँ की जलवायु अच्छी है।' 'अच्छी' से उनका क्या तात्पर्य है, यह पता नहीं लगता। निर्मल आकाश व तेज धूप, ठंडे मुल्क के लोगों के लिए अच्छे हो सकते हैं पर गर्म मुल्क वाले तो हाय-तोबा करने लगेंगे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं पर उनसे कोई विशेष लाभ नहीं। देखना यह है कि तार्किक विचार के नाम पर दिये जाने वाले प्रशिक्षण से ऐसी तर्कहीन बातें कैसे पनपती हैं।

दोष दुहराता है। प्रथम तो अध्यापक स्वयं ही ऐसी अस्पष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं कि जिससे कक्षास्थ छात्र भी भूल और देने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग करता है। दूसरी बात यह है कि पढ़ाते समय यह प्रयत्न नहीं किया जाता कि तर्क शक्ति विकसित हो। कहा ६ और उसके आगे जब भी जलवायु का जिक्र आवे तो अध्यापक को मान कर की, और कई मासों की आर्द्रता का आंकड़ों सहित विवरण देना चाहिए और साथ ही वायु का भी। तापमान, दाब शक्ति, प्रवाह, दिशा आदि-आदि सारी बातें बताने के उपरान्त किसी नतीजे पर पहुँचना चाहिए कि जलवायु कैसा है। यदि सदा ऐसा ही किया जाय तो छात्र में जरूर तर्क-शक्ति विकसित हो सकेगी।

एक और बात की ओर भूगोल के प्रत्येक अध्यापक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। भूगोल-अध्यापन में जब तक मानवीकरण न किया जाय, तब तक वह अपूर्ण है। "We study the Earth as the abode of Man in Geography", और यह Man ज्यादा महत्वपूर्ण है। भारत की प्राकृतिक बनावट पढ़ाते समय यदि उत्तर के बड़े पहाड़, गंगा-यमुना व ब्रह्मपुत्र के मैदान, दक्षिण के पठार और तटीय मैदान का मानवीकरण नहीं किया गया तो प्राकृतिक बनावट का आधुनिक दृष्टिकोण नहीं बन पायगा। निरी सामग्री या सिद्धान्त अपर्याप्त हैं। यहाँ हम उस स्थान पर आ जाएँगे जहाँ मानव और प्रकृति का आपस में एक दूसरे को प्रभावित करना पाया जाता है। कुछ वर्षों पहले अजेय प्रहरी समझा जाने वाला हिमालय अब भारत का एक साधारण प्रहरी ही रह गया है। मानव ने क्या खेल कर दिखाया है? आज से दस वर्ष बाद थार के रेगिस्तान का मध्य कहा जाने वाला जैसलमेर अनाज की एक अच्छी मंडी बन कर रहेगा। मानव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे नये बन गये हैं, या यों कह कि अपनी बुद्धि द्वारा प्राकृतिक साधनों का नवीन उपयोग मानव ने अपने लाभ हेतु किस प्रकार कर लिया है यह देखने की चीज है। इससे छात्र में आशावाद विकसित होगा।

एक और बात कह कर अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा। आज दिन प्रति दिन जैसे ज्ञान का विस्फोट हो रहा है। आज से दस वर्ष पूर्व के आँकड़े आज पुराने हो चुके हैं। इतना ही नहीं, सिद्धान्त भी पलटते जा रहे हैं। कहा जाता रहा है कि चन्द्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह है, वह इसीमें से टूटकर इसका चक्कर लगाने लग गया है। पर हाल ही में चाँद से लाई गई मिट्टी के आधार पर वैज्ञानिकों का कहना है कि चाँद पृथ्वी से पुराना है। तो फिर वह इसका उपग्रह तो नहीं हो सकता। फलतः अब सारा सैद्धान्तिक आधार ही नये सिरे से सोचना और गढ़ना पड़ेगा। पृथ्वी के गोल होने का

अब एक ही प्रमाण पर्याप्त है— 'आँखों देखी परशराम, कबहूँ न झूठी होय'। एपोलो-नाट्स ने पृथ्वी को दूर से देख लिया है, फोटो ले ली हैं। फोटो तो जैसी है, वैसी ही छपी। अब भी क्या पृथ्वी के गोल होने के प्रमाण की जरूरत है? हमारे भूगोल-शिक्षण को भी आधुनिकतम नवीन खोजों, परिवर्तनों व आँकड़ों के प्रति सजग रह कर भूगोल-शिक्षण को अधिकतम बनाना चाहिए।

Geography teaching : common errors and remedies

A L Sharma

The parent, the teacher and the educational administrator alike, seem to be concerned to day regarding the continually falling standards of students This fall is perceptible in all fields and specially in geography

After a careful observation of numbers of geography lessons given by teachers of different professional standings, the auther has made an attempt to analyse the existing state of affairs and feels that if the causes are located, much can be done in the direction of bringing in a qualitative improvement in the teaching of geography.

Generally it is expected that the geography teacher will go

to the classroom well prepared with his lesson, and, before coming to his lesson proper, build or rather arouse the right kind of 'apperceptive mass' by motivating the students Having performed this much desired preliminary he would develop his whole lesson with the help of his students who, after the lesson would distinctly show some well thought of behavioural modifications.

The author knows that most of our geography teachers strive to do so, but unwillingly, things creep in, which act as factors that are decidedly not conducive to effective learning. It is here after proposed to consider a few of those activities which, if avoided may well be expected to lead to better teaching learning situation

It has for instance been observed that while teaching geography of distant lands, we totally neglect local geographical conditions One can readily see that this indiscriminate avoidance of a mention of anything local fails to build up clear conceptual masses based on associations and discriminations Experience shows that incorporation of local factors does not only make new information worth while but enriches it and sustains pupils '

Examining the afore mentioned situations a bit more closely, it may be seen that, such situations arise only when we do not know exactly and specifically what to achieve Once the teacher is clear of his objectives he will see the futility of the methods used by many inexperienced teachers who mistakenly feel satisfied if they make their students read out particular text content to the class

While some teachers make students read the prescribed books loud others do just the contrary They always seem to be deriving some inexplicable pleasure at listening to their own voice when indulging in long drawn yarns and fruitless narrations A good verbal expression has no doubt is an asset of a good teacher be at it, he would

find it almost impossible to clear mental picture of a glacier, a conical tree, a rill, a cold frozen desolation of the Antarctic.

Today's schools, where geography is being taught as a subject of special study, have been sufficiently equipped with static and working models, colourful charts and photographs Instead of letting them remain dumped up in stores, we as geography teachers should start thinking in terms of making effective use of these aids In the absence of costly teaching aids, quick but accurately drawn sketches on the black board, cutting from news papers and illustrative magazines, models developed with the help of students in the classroom itself promise far more effective understanding and learning

A mere display of the model or any teaching aid it would be another narration-session and no more What may be done is to guide students in 'observation' of the thing and deriving the right kind of inferences, Guided by their own reason, Perception of students is expected to result in a better and clear concept formation

Another aspect of teaching generally adversely affected, is due to some misconception about the nature of questions and questioning techniuqe Many of us, teachers, take ourselves to be very much methodological if we are able to have a large number of questions on which we may base our lesson. Consequently, the questions framed acquire the characteristics of test questions rather that those of developmental questions.

A question like · 'What is the height of Kanchanjungha ?

or 'How deep is the Boy of Bengal ?'

or 'What is the average rainfall of Cheerapunji ?'

May not be answered by a student if he has not already been told about it directly or indirectly for, neither a secondary school

Rajas hani student has scaled the frozen barrenoess Kanchanjungha nor has ever had the opportunity of diving deep in the Bay of Bangal

Questions there fore, may never be put on content which is totally foreign to the students This caution to the teacher will go a long way in removing undesirable concepts of self incompetency of students when everytime they are to answer to the negative Further more questions may as a rule not be addressed to a few selected students. Well djstributed question really help all students feel equally important in the class, and thus equal claimants of their teacher's attention

It is not very rare to find students interchanging the positions of Ankor and Konarak, the two sounding so close as to be placed either in India or the Far East. And if an intellegent student does so, who should be blamed. The case is, that we as teachers are not stressing the use of atlas sufficiently. The auther has well considered reasons to believe that inspite of sall maps being displayed in the classroom, atlas may be made a must in all geography lessons The teacher in addition should be able to draw maps, show locations of places and direct his students to develop the skill of map drawing which is an essential skill to be developed. James Fairgriene, it will be remembered considered it so essential that he said that ninty nine percent of geography can be put on a map

Not map drawing alone, but map reading too is an important objective before the geography teacher. In connection with maps sometimes very undesirable concepts get conveyed The use of word 'above' and 'below' have very often been used to mean 'to the south of'. An awakened geography teacher

cher say what he means, and mean what he say, lest he creates confusion in immature minds.

Remembering in retrospecct the author believes that the times are past when history was taught as a record of king and wars and geography was merely the description of the flora and fauna of places on the map This sad absence of a human tough to the subject was perhaps responsible for the querry of a modern child who asked his teacher what was the use of geography. Having been cautioned by that blessed child let us hope that we will not only teach geography better but humanise all knowledge in the hope of producing expert geographers and world citizens

●●●

माध्यमिक विद्यालयों में अर्थशास्त्र-शिक्षण

—[illegible] मिश्र

राजस्थान में अर्थशास्त्र एक वैकल्पिक विषय के रूप में कक्षा नवीं से पढ़ाया जाता है। इस विषय के अध्यापन में कतिपय बातें ऐसी हैं जिनकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है किन्तु शिक्षण की दृष्टि से वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हीं बातों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

अध्यापन में साधारणतया प्रश्नोत्तरों द्वारा पाठ का विकास किया जाता है। पर प्रायः देखा जाता है कि यदि प्रश्नोत्तरों की गाड़ी न चल सकी तो आ गये स्वकथन पर, और नहीं तो तालिका या चार्ट पढ़वाना शुरू कर दिया। ज़्यादा हुआ तो मान-चित्र का उपयोग कर लिया जाता है। मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि प्रश्नोत्तर प्रविधि (Technique) न अपनाई जावे या स्वकथन वर्जित है। पर मैं तो आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं कि अन्य प्रविधियां व विधियां भी

सी है जिनका प्रयोग व अभ्यास किया जा सकता है। उदाहरणतः समस्या-विधि, प्रायोजना विधि, सर्वेक्षण विधि, पेनल-चर्चा, वाद-विवाद, तथ्य एवं आँकड़ों का संकलन कर निष्कर्ष निकालना, सिम्पोजियम आदि आदि।

अध्ययन में विभिन्न विधियों के प्रयोग से जहाँ अध्ययन रुचिकर होगा वहाँ कई पाठ किन्हीं विधियों के उपयोग से श्रेष्ठतर ढंग व स्तर पर पढ़ाये जा सकेंगे। यह सब ज्ञान विभिन्न प्रकार की विधियों, प्रयोगों व अभ्यासों के प्रयास से ही प्राप्त हो सकती है। जैसे उद्योगों के स्थानीयकरण के लाभ तथा हानियाँ, बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ-हानियाँ, कार्यानुसार समयानुसार मजदूरी के गुण-दोष, बैंक राष्ट्रीयकरण के पक्ष-विपक्ष पर वाद-विवाद कक्षा में ही आयोजित किये जा सकते हैं। भारतीय कृषि के पिछड़ेपन व सुधार के उपायों पर एक पेनल-चर्चा की जा सकती है। भारत की नदी घाटी योजनाओं को प्रायोजना Project) विधि से पढ़ाया जा सकता है। भारत की खनिज-सम्पदा, वन-सम्पदा, पशु-सम्पदा पर एक कार्य-गोष्टी आयोजित की जा सकती है। भारत की खाद्यान्न-समस्या व बेरोजगारी-समस्या को समस्या विधि अपना कर अवगत कराया जा सकता है। पारिवारिक बजट को सर्वेक्षण-विधि द्वारा, तो भारत की पंच-वर्षीय योजनायें निरीक्षित अध्ययन पद्धति द्वारा पढ़ाई जा सकती है। भारत में कृषि की पैदावार या फसलों पर एक सिम्पोजियम गठित किया जा सकता है। उपभोक्ता की बचत, सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम पर अभिक्रमित अध्ययन पद्धति (Programmed Learning) के पाठ विकसित किये जा सकते हैं।

इस प्रकार अर्थशास्त्र-अध्ययन के प्रसंग में विभिन्न विधियाँ अपनाते समय कौनसा पाठ किस विधि से श्रेष्ठ ढंग से पढ़ाया जा सकता है इस पर पाठ योजना बनाते समय अवश्य विचार किया जाये। अच्छा हो एक ही पाठ को दो विभिन्न विधियों से पढ़ाकर, किसी पाठ विशेष के लिए अपनाई जाने योग्य विधि मालूम की जाये ताकि पाठ अधिकाधिक बोधगम्य हो सके।

विधियों के बाद दूसरी बात विषय-सामग्री के वांछनीय स्तर की है। साधारणतया अध्यापक बोर्ड द्वारा अनुमोदित अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक में लिखित तथ्यों को ही उसी क्रम व परिमाण में लेकर इकाई योजना व पाठ-योजना का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हम अर्थशास्त्र की एक विशेष पाठ्यपुस्तक पढ़ाना आरम्भ कर देते हैं, जब कि हमें कक्षा के लिए निर्धारित अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम को सुसंगठित कर पाठ योजनायें

बनानी चाहिए। अर्थशास्त्र की वर्तमान अनुमोदित अधिकांश पाठ्यपुस्तकें विद्यार्थियों के
लिये सहायक सामग्री मात्र है। वे अध्यापकों के लिए सम्पूर्ण निर्देशिका नहीं हैं। अर्थशास्त्र
में एक ही पाठ्यपुस्तक तक ज्ञान को सीमित रखना कैसे उचित कहा जा सकता है?
अर्थशास्त्र-अध्यापक को बोर्ड द्वारा अनुमोदित पाठ्यक्रम को अवश्य देखना चाहिये। उस
पाठ्यक्रम को अध्यापक स्वय इकाइयों में विभाजित करे व तदनुकूल विषय-सामग्री जिस
पुस्तक में भी अपेक्षया अधिक अच्छे रूप में उपलब्ध हो उसमें प्राप्त कर विषय का स्तर
के स्तरानुरूप सही व आधुनिकतम ज्ञान अपने छात्रों को दे।

स्वय विद्यार्थियों के लिए भी अर्थशास्त्र में बस एक ही पाठ्यपुस्तक का अनु-
मोदन करने के बजाय अधिक पाठ्य पुस्तकें अनुमोदित की जानी चाहिये ताकि छात्र आपस
में पुस्तकों का आदान प्रदान कर स्व-अध्ययन की ओर प्रवृत्त हों व विभिन्न पुस्तकों
दिये गये विभिन्न मतों में से अपने विवेक से अभीष्ट मत के बारे में निर्णय लेने के अवसर
प्राप्त कर सकें। उनमें चयन-क्षमता उत्पन्न हो। पाठ्यपुस्तक की प्रत्येक बात छात्रों को
पढ़ा दी जाये, यह भी उचित नहीं। सरल बातें छात्र स्वयं समझ लेंगे। अध्यापक
समय और प्रयास की मितव्ययता की दृष्टि से भी यह इस 'ज्ञान-विस्फोट युग'
आवश्यक है।

जब हम विद्यार्थियों से यह अपेक्षा करते हैं कि वे अर्थशास्त्र के अध्ययन
एक से अधिक पुस्तकें पढ़ें, तो हम अर्थशास्त्र के अध्यापक के लिये तो यह अपरिहार्य
समझते हैं कि वह सम्बन्धित आवश्यक पुस्तकें व अन्य साहित्य का अच्छी तरह अवलो
करके अपना पाठ तैयार करे।

सामान्यतया अध्यापकों को सम्बन्धित साहित्य ढूंढने व खोजने में क
असुविधा होती है। कतिपय अध्यापक इसके आदी तथा अभ्यस्त नहीं है। कुछ को म
इसके लिए समयाभाव की शिकायत रहती है कई अध्यापक चाहते हुए भी यह
कर पाते क्योंकि इस प्रकार की पुस्तकालय-वाचनालय सुविधाओं का समय पर अभ
रहता है। पुस्तकालय-सेवा का उपयोग कर सकने का कौशल एक अर्थशास्त्र अध्या
में इसका विकास आवश्यक है। सन्दर्भ-पुस्तकें, Encyclopedia, index, Bibliograp
footnotes आदि के उपयोग का व्यावहारिक ज्ञान हुए बिना एक पाठक पुस्तका
सेवा का पूरा लाभ कैसे ले सकता ? वस्तुतः यह एक विचारणीय प्रश्न है।

लिखित कार्य का अभ्यास न कराया जावे तो विद्यार्थियों की लिखित अभिव्यक्ति अविकसित रहने के कारण परीक्षा में उन्हें भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। फिर यदि लिखित कार्य कराया जाय पर समय पर उसका संशोधन न हो तो उसका लाभ ही क्या? अतः लिखित कार्य का संशोधन भी अध्यापक अवश्य करें। इस संशोधन की अवगति छात्रों को भली प्रकार न हो तो भी उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। अतः संशोधन के बाद कतिपय पाठ लिखित कार्य के संशोधनात्मक पाठों के रूप में भी प्रस्तुत किये जायें। मूल्यांकन के बाद भी पाई गई अधिकांश त्रुटियों एवं कमियों की पूर्ति के लिए पुनरावृत्ति-पाठ हों। यदि अपेक्षाकृत कमजोर छात्रों की संख्या कम हो तो अतिरिक्त अध्यापन की व्यवस्था की जावे। अधिक छात्र-संख्या हो तो एक ही कक्षा के छात्रों के स्तरानुसार खण्ड बनाये जायें। मेधावी छात्रों को अतिरिक्त कार्य देकर उनकी अध्ययन-क्षुधा तुष्ट की जावे। इस उद्देश्य से उन्हें लेखकों की पाठ्य-पुस्तकें पढ़ने व फ्लोचार्ट, डायग्राम बनाने को कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी, देखने में छोटे-छोटे किन्तु महत्वपूर्ण, तथ्य हैं जिनकी ओर ध्यान देने से अध्ययन अधिक प्रभावशाली हो सकता है।

श्याम-पट्ट को कक्षा अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। Blackboard is the cinema-screen of the class room निश्चय ही यह एक ऐसा सस्ता एवं सर्वत्र सुलभ साधन है जो प्रायः समस्त विद्यालयों में अध्यापकों को उपलब्ध है। इसका समुचित उपयोग बहुत काम का हो सकता है। अतः अर्थशास्त्र-अध्यापक को श्यामपट्ट पर सुलेख व शुद्ध लेख लिखने का अच्छा अभ्यास करना चाहिये। श्याम-पट्ट पर लिखा लेख बड़े अक्षरों में हो ताकि कक्षा की अन्तिम पंक्ति में बैठा छात्र भी आसानी से उसे पढ़ सके। थोड़े दिनों तक प्रतिदिन अभ्यास करने से सीधी पंक्ति में लिखना सीखा जा सकता है।

कतिपय डायग्राम, ग्राफ, व स्कैच श्यामपट्ट पर तत्काल बनाये जा सकते हैं। यदि कठिनाई अनुभव करें तो लपेट श्याम-पट्ट पर पहले ही बनाकर ले आये जायें। छात्रों में भी अर्थशास्त्र के कालांश में पेन्सिल, पटरी, रबर आदि घर से साथ लेकर आने की आदत डाली जा सकती है ताकि छात्रों को कक्षा में ही सही अभ्यास दिया जा सके। ग्राफ, डायग्राम, मानचित्र एवं स्कैचों में रंगीन चाक के प्रयोग से विविधतायें एवं विभिन्नतायें स्पष्ट की जा सकती हैं। यदि यह बात सही है कि छात्र अध्यापक की लिखावट की नकल करते हैं तो यह बात भी उतनी ही सही है कि विद्यार्थी

सामाजिक विषयों का अध्यापन : कुछ व्यावहारिक सुझाव

—विजयबिहारीलाल माथुर

सामान्यतया विभिन्न सामाजिक विषयों के शिक्षण के प्रसंग में जिन कतिपय बातों का ध्यान तथा तत्सम्बन्धी सावधानी कक्षाध्यापन एवं छात्रों के उपलब्धिगत स्तर को उन्नत करने में सहायक हो सकती है, उन पर संक्षेप में कुछ चर्चा करना इस लेख का उद्देश्य है।

१ योजनाबद्ध शिक्षण :

अध्यापक के सामने आने वाली समस्याओं में से एक है—'पाठ्यक्रम की पूर्ति।' इस सम्बन्ध में भार-पूर्वक यह कहा जा सकता है कि पाठ्यक्रम समय पर समाप्त न होने अथवा समय से पूर्व समाप्त हो जाने, इन दोनों ही प्रकार की त्रुटियों के निवारण का एक मात्र उपाय 'योजनाबद्ध शिक्षण' है। सत्र भर में समाप्त किये जाने वाले पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सैद्धान्तिक, व्यावहारिक एवं अन्य वांछ्य सामग्री को शैक्षणिक इकाइयों में विभाजित

कर, प्रत्येक इकाई के शिक्षण को दिये जाने वाले कालांशों की संख्या निश्चित कर लें एवं सत्र भर मे मासिक आधार पर जितने कालांश विषय-शिक्षण हेतु मिलने वाले हों उनकी गणना कर मासिक योजना बना ली जाय। इकाई-योजना-विभाजन के आधार पर दैनिक-योजना का निर्माण सुगमता से किया जा सकता है। दैनिक योजना के अन्तर्गत शिक्षण बिन्दुओं का निर्धारण कर उनमे शिक्षण के उद्देश्य एवं विशिष्ट उद्देश्य (व्यवहारगत परिवर्तन) भी निर्धारित करने से शिक्षण की दिशा निर्धारित हो सकेगी। जिन विशिष्ट शैक्षणिक उद्देश्यों के आधार पर शिक्षण हो, उन्हीं के आधार पर मूल्यांकन भी किया जावे तो अध्यापक को यह स्पष्ट हो सकेगा कि उसके शैक्षणिक उद्देश्यों की किस सीमा तक सफलतापूर्वक उपलब्धि हुई है।

अध्याप्य बिन्दुओं के शिक्षण को किन सोपानों एवं विधियों से नियोजित करना वांछनीय है, इसके पूर्व-निर्धारण से समय एवं श्रम की भी बचत होगी। अध्यापक संक्षेप में इन सब को लिखेगा, वही उसकी पाठ-योजना बन जायगी। निश्चय ही इस प्रकार के उद्देश्य-आधारित तथा योजना-बद्ध शिक्षण से कार्य सुचारु रूप से सम्पादित होगा तथा छात्रों के कोर्स केवल नाम को ही पूर्ण नहीं होंगे वरन् पूर्ण होने का अधिकतम तथा वास्तविक लाभ भी उन्हें प्राप्त होगा।

निस्सन्देह उपरोक्त प्रकार का योजना-बद्ध शिक्षण सभी विषयों के शिक्षण में उपयोगी रहेगा, परन्तु सामाजिक विषयों मे इसकी आवश्यकता एवं महत्ता और भी अधिक है। इन विषयों की सामान्यतया कोई भी पाठ्यपुस्तक पाठ्यक्रम की सभी आशाओं व अपेक्षाओं यथा स्तर, विषय-सामग्री, चित्र व मानचित्र तथा विषय-प्रस्तुतीकरण आदि की पूर्णतया पूर्ति नहीं करती, तथा छात्र अधिकांशत अधिक संख्या में पुस्तकें क्रय नहीं कर सकते, अत इस प्रकार की विषय-वस्तु व चित्रादि जो पाठ्यक्रम से अपेक्षित हों, परन्तु निर्धारित पाठ्यपुस्तक में न हों, उनकी पूर्ति अध्यापक को सम्वर्द्धन-सामग्री (enrich-material) के रूप में छात्रों को देकर करनी होगी। योजना बनाते समय इस प्रकार की सामग्री का समावेश भी कर लेना चाहिये तथा शिक्षण-कार्य के समय जो कुछ ध्यान में आवे उसे भविष्य की योजना-हेतु ध्यान-पूर्वक सुरक्षित रखना चाहिये।

2. पाठ्यपुस्तकों का समुचित उपयोग :

उपयोग मे लाया जाता है। अर्थात् उनका शिक्षण लगभग सम्पूर्ण रूप से पाठ्यपुस्तक पर आधारित होता है। इन पाठ्यपुस्तकों का वाचन कक्षा मे अधिकांशतः छात्रों द्वारा अथवा कभी-कभी अध्यापक द्वारा हो जाता है। यत्र-तत्र अध्यापक द्वारा कुछ स्पष्टीकरण कर दिया जाता है तथा पाठ्यपुस्तक के प्रथम से अन्तिम पृष्ठ तक के वाचन की समाप्ति को 'कोर्स समाप्त हुआ' समझ लिया जाता है।

प्रत्येक अध्यापक को यह स्मरण रखना चाहिये कि पाठ्यपुस्तक में, जो कुछ छात्रों को विभिन्न शैक्षणिक उद्देश्यों की उपलब्धि मे अध्यापक द्वारा सहायता दी जाती है, उसका संकेत मात्र होता है, और वह भी न्यूनतम मात्र, अधिकतम नहीं। पाठ्यपुस्तक मे सम्मिलित प्रकरणों की अतिरिक्त वाचन व अध्ययन द्वारा अध्यापक को स्वयं अच्छी तरह तैयारी करना चाहिए तथा विभिन्न शिक्षण-बिन्दुओं की तैयारी, पूर्व-निर्धारित विशिष्ट उद्देश्यों के आधार पर कर, पाठ-योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित प्रणाली, विधि या सोपानो के क्रम से उनका अध्यापन करना चाहिये। कक्षा-शिक्षण मे पाठ्यपुस्तक को ही माध्यम या आधार के रूप मे प्रयोग मे न लाकर, श्यामपट्ट-सारांश के रूप में वे बिन्दु भी देने चाहिये जिनका उल्लेख छात्रों की पाठ्यपुस्तक में नहीं हुआ हो। शेष के लिये छात्रों को गृह-अध्ययन के रूप मे पाठ्यपुस्तक का सम्बन्धित अंश देखने व समझने के लिए कह दिया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा तथा विज्ञान-विषयों मे जिस प्रकार तथा जिस सीमा तक किसी एक स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक को कक्षा-शिक्षण का आधार बनाया जा सकता है, उस स्थिति मे सामाजिक विषयों की स्थिति यथेष्ट भिन्न है। भाषा का शिक्षक विभिन्न गद्य पद्य पाठों को पाठ्य-पुस्तक के बिना नहीं पढ़ा पायेगा, परन्तु सामाजिक विषयों का शिक्षक यदि पाठ्य-पुस्तक को छात्रों के गृह-उपयोग हेतु सीमित कर कक्षा मे उसका उपयोग न करे तो शिक्षण अधिक सफल बन सकेगा।

३ प्रश्नोत्तर प्रणाली

सामान्य रूप से किसी भी विषय का शिक्षक 'प्रश्नोत्तर-विधि' का कक्षा-शिक्षण के एक सशक्त एवं उपयोगी साधन के रूप मे प्रयोग कर सकता है। प्रश्नों के द्वारा नव पाठ की प्रस्तावना एवं उत्प्रेरणा सम्भव है। इससे नव ज्ञान के बिन्दुओं मे अध्यापक छात्रों को ज्ञात से अज्ञात की ओर गतिशील कर सकता है, तथा छात्रों ने ईप्सित ज्ञान अर्जित प्राप्त किया है या नहीं इसका मूल्यांकन भी कर सकता है।

प्रश्नोत्तरविधि से छात्रों को ज्ञानार्जन के कार्य में अधिक सहयोगी बनाया जा सकता है तथा अध्यापक निरन्तर स्वयं ही बोलते रहने से व्यय होने वाली अपनी शक्ति को अधिक उपयोगी कार्य हेतु संचित एवं सुरक्षित रख सकता है ।

प्रश्नोत्तर के प्रभावशाली उपयोग में होने वाली सामान्य त्रुटियों के निराकरण हेतु निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना उपयोगी होगा :—

(१) प्रश्न विचारोत्तेजक हों तथा जो ज्ञान छात्रों से अपेक्षित नहीं है, उस पर आधारित न हों ।

(२) प्रश्न किसी छात्र-विशेष को नहीं वरन् समस्त कक्षा को सम्बोधित करके पूछे जायें, उत्तर सोचने हेतु छात्रों को उचित समय दिया जाय, तथा जो छात्र उत्तर दे सकें, उन्हे हाथ उठाने को कहा जाय, पर उत्तर कक्षा के किसी भी छात्र से देने को कहा जावे ।

(३ प्रश्न कक्षा के सभी छात्रों में समान रूप से वितरित कर पूछे जायें। उपेक्षा भाव रखने वाले, सामान्य से निम्न स्तर वाले तथा पिछली बैंचों पर बैठने वाले छात्रों पर विशेष ध्यान दिया जाय ।

(४) छात्र से सही उत्तर प्राप्त न होने पर उसे प्रश्न दुहराने को कहा जाय । सम्भव है, उत्तर गलत इसलिये हो कि उसने प्रश्न ठीक प्रकार से न सुना हो । यदि वह प्रश्न गलत दुहराता है तो दूसरे छात्र से प्रश्न पूछा जाय व पहले छात्र से प्रश्न सरल व छोटे प्रश्नों में विभाजित कर, पूछा जाय ।

(५) इस पर भी छात्र से उत्तर प्राप्त न हो सके तो दूसरे छात्र से उत्तर लिया जाय । किसी छात्र से सही उत्तर प्राप्त होने पर उन छात्रों से सही उत्तर दुहराने को कहा जाय जो कि गलत उत्तर दे चुके हैं।

(६) किसी भी छात्र से सही उत्तर प्राप्त न हो तो फिर सही उत्तर स्वयं अध्यापक को बता देना चाहिये परन्तु इस परिस्थिति में यह मानना उचित होगा कि जिस शिक्षण-बिन्दु को कक्षा का कोई भी छात्र नहीं समझ सका, उसे दुबारा पढ़ाया जाना चाहिए ।

८ शैक्षणिक उपकरणों का अधिकतम उपयोग :

विद्यालयों में शैक्षणिक उपकरण कम होने की समस्या सामान्य है। परन्तु उपकरण होते हुए भी क्या उनको सर्वोत्तम रूप से सम्बन्धित अध्यापक उपयोग में लाते हैं ? इस दिशा में पर्याप्त सुधार की अपेक्षा है। उदाहरणार्थ भूगोल-अध्यापक के लिए मानचित्र सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। मानचित्र के सकेतों को 'भूगोल की भाषा' तथा मानचित्रों को 'भूगोल की पुस्तक' सही रूप में कहा गया है। दुर्भाग्य से आजकल मानचित्र-अध्ययन पर वांछित बल एवं ध्यान नहीं दिया जाता। परिणाम इतना शोचनीय हो रहा है कि छात्रों को मानचित्र सम्बन्धी आधारभूत मान्यताओं की जानकारी भी नहीं है, तथा मानचित्र पर कोई स्थान आदि अंकित करने में भी उन्हें कठिनाई होती है और इस प्रकार। एक विचित्र और हास्यास्पद स्थिति सामने आती है। किन्तु इन सब बातों के निराकरण का बस एक ही उपाय है, और वह है अभ्यास।

भूगोल के सभी अध्यापकों को तो यह दृढ़ नियम ही बना लेना चाहिये कि वे स्वयं अध्यापन हेतु कक्षा में मानचित्र अथवा अन्य आवश्यक शैक्षिक उपकरणों के बिना जायेंगे ही नहीं। प्रत्येक छात्र से भी मानचित्र-पुस्तिका, एटलस तथा सम्बन्धित रिक्त मानचित्र (खाके) अवश्य लाने को कहा जाय।

अन्य सामाजिक विषयों के अध्यापक भी रेखाचित्र एवं अन्य प्रकार के चित्रों के प्रयोग द्वारा कक्षा-शिक्षण को अधिक रोचक एवं सुग्राह्य बना सकते हैं। मानचित्रादि बनाने का छात्रों को प्रारम्भ में अभ्यास कराना चाहिये, तथा छात्र 'फ्री हैण्ड' मानचित्र भी सही बना सकें इस ओर अध्यापक को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। आज के छात्र फ्री हैण्ड से जिस प्रकार का भारत का नक्शा बना पाते हैं, वह हास्यास्पद एवं लज्जाजनक है। अध्यापक छात्रों में बहुत लाभदायक कौशल की अभिवृद्धि कर सकेंगे यदि वे प्रारम्भ से ही उनमें मानचित्र के प्रति रुचि जागृत कर उनके बनाने की योग्यता उत्पन्न कर सकें। इन सभी कार्यों में शैक्षिक उपकरणों का समुचित उपयोग अपेक्षित है।

शिक्षण में श्रव्य-दृश्य सामग्री के उपयोग से असीम लाभ सभव है तथा उसके लिए अनन्त क्षेत्र है। अध्यापक बहुधा यह शिकायत करते हैं कि विद्यालय में यह सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाती। हो सकता है कि किन्हीं विद्यालयों में यह स्थिति भी हो, परन्तु दूसरी ओर अनेक व अधिकांश विद्यालयों में यह देखा गया है कि

नक्शों, चार्टों व अन्य सामग्री पर जमी हुई धूल की मोटी तह यह पुकार-पुकार कह रही है कि उनका दीर्घ काल से कोई प्रयोग नहीं हुआ है।

श्रव्य-दृश्य सामग्री के उत्तम एवं प्रभावशाली उपयोग हेतु यह आवश्यक है कि उनकी संख्या विपुल हो। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनका उपयोग किस हेतु तथा किस प्रकार किया जा रहा है। किसी उपकरण को प्रस्तुत कर प्रश्नोत्तर-विधि का समुचित प्रयोग करते हुए, उस उपकरण के माध्यम से छात्रों को अधिकतम ज्ञान व सूचना ग्रहण करने की प्रेरणा देनी चाहिए, तथा कौशल हेतु, उस सूचना को छात्र स्वयं सही अंकित कर सकें, यह योग्यता अभ्यास द्वारा उत्पन्न की जानी चाहिए।

जहाँ तक साधन-सुविधाओं की दृष्टि से सम्भव हो, श्रव्य-दृश्य-उपकरण छात्रों की सहायता से विद्यालय में निर्मित भी कराये जाने चाहिए। इस प्रकार के उपकरणों से जहाँ छात्रों को ज्ञान एवं कौशल-अर्जन की दृष्टि से बहुत लाभ होता है, वहाँ इससे उन्हें निर्माण-जनित सन्तोष एवं सुख की अनुभूति भी होती है। यही नहीं, इससे उन्हें और अधिक निर्माण की प्रेरणा भी मिलती है। इस कोटि के उपकरणों में खिलौनों से लेकर प्रोजेक्टर में काम आने वाली फिल्में, फिल्म-स्लाइड आदि सभी सम्मिलित की जा सकती हैं।

६ प्रायोगिक शिक्षण

अनेक विषयों के शिक्षण में प्रायोगिक कार्य अपेक्षित है। देखा यह गया है कि ऐसे प्रकरणों को भी सैद्धान्तिक प्रकरणों की भांति पढ़ा दिया जाता है– अधिकांशतः तो बस पुस्तक-वाचन के ही द्वारा, और यों अपेक्षित प्रायोगिक कार्य पूर्ण कर न नहीं कराया जाता। उदाहरणार्थ प्राथमिक कक्षाओं में भूगोल के प्रारम्भिक पाठों में आस पड़ोस की सैर के पाठ होते हैं। उनका उद्देश्य छात्रों को वास्तव में सैर करा कर ज्ञान देना है, न कि कक्षा की चारदीवारी के अन्दर पुस्तक-वाचन कराना। इसी प्रकार माध्यमिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित प्रकरणों के विषय में भी सुझाव है कि आवश्यक प्रायोगिक कार्यों पर यथोचित ध्यान दिया जाय।

[illegible] सामाजिक विषयों के प्रसंग में भी प्रायोगिक प्रकरणों के शिक्षण में यह [illegible]

उनके सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यवहार में लाने के अवसर दिये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ नागरिकशास्त्र में नागरिकों के कर्तव्य, अर्थशास्त्र में पारिवारिक बजट, ह्रास-शील उपयोग का नियम, सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त, आदि। सामाजिक ज्ञान में उन सामाजिक परिस्थितियों का व्यावहारिक ज्ञान, जिन से निमित्त वातावरण में छात्र को नागरिक के रूप में सफल जीवन यापन करना है।

७ सामयिक मूल्यांकन

प्रत्येक शिक्षक के लिए यह परमावश्यक है कि मूल्यांकन के सही उपयोग एवं महत्त्व को वह समझे। शिक्षण एवं मूल्यांकन अन्योन्याश्रित हैं। छात्रों का सामायिक मूल्यांकन अध्यापन में मार्ग-निर्देशन हेतु भी एक लाभदायक आधार बनना चाहिये। वह छात्रों की सामान्य त्रुटियों की ओर ध्यान देकर अपने शिक्षण में भी सुधार की दिशा प्राप्त कर सकता है तथा छात्रों की इन सामान्य त्रुटियों की ओर सामूहिक रूप से ध्यान देने से कक्षा का शैक्षणिक स्तर उन्नत किया जा सकता है।

मूल्यांकन का उद्देश्य इस प्रकार स्वीकार कर लिया जाकर, सामयिक मूल्यांकन का योजनाबद्ध स्वरूप और भी लाभदायक होगा। यह आवश्यक नहीं है कि इस मूल्यांकन का प्रशासनिक या व्यवस्था सम्बन्धी स्वरूप परीक्षा जैसा हो। छोटे-छोटे कुछ प्रश्न जो विशिष्ट शैक्षिक उद्देश्यों पर आधारित हों, सम्बन्धित विषय के कालांश में ही छात्रों को देकर उत्तर प्राप्त किये जा सकते हैं, तथा छात्रों की उत्तर-पुस्तिकाओं को छात्रों में अदल-बदल कर नवीन प्रणाली के प्रश्न-सम्बन्धी उत्तरों का मूल्यांकन भी कक्षा में ही कराया जा सकता है। इस उपयोगी साधन को छात्रों के शैक्षिक उन्नयन में उचित रीति से प्रयुक्त किया जाय तो छात्रों का बड़ा हित किया जा सकेगा।

ये कुछ छोटी-छोटी बातें हैं, किन्तु मेरा विश्वास है कि यदि इन बातों की ओर समुचित ध्यान दिया जाय तो विभिन्न सामाजिक विषयों के अध्यापन की स्थिति में प्रभावकारी सुधार लाया जा सकता है।

Teaching of mathematics

S. L. Jain

The importance of mathematics in this technological a
needs no emphasis. Material prosperity depends upon the success
application of knowledge of science and mathematics Effective teach
of mathematics in our school depends upon our appreciation of
subject. The organization and language of mathematics are underg
speedy change due to the explosion of new knowledge in app
mathematics

Characteristics of mathematics :

(i) It is an exact science.

(ii) The larger part of subject—matter of mathematics
concepts, and clarity about concepts in mathematics is an impo

need of successful learning of mathematics.

(iii) Arithmetic, Algebra and Geometry are not independent branches of mathematics. They are interrelated and should be taught as integrated subject matter.

(iv) [illegible] knowledge of mathematics proves very harmful to learning of the subject.

(v) Language of set theory has made the subject matter of mathematics more precise and intelligible.

How to make teaching of mathematics effective ?

A good teacher of mathematics must understand well the different dimensions of the subjectmatter of various topics and plan the teaching programme according to the needs and requirement of his students. Hurried teaching without emphasizing concept helps nobody. The following are some of the suggestions for effective teaching of this subject.

(i) The student should have a good command over such topics which have wide-spread applications. Topics like decimal system, percentage, unitary method, ratio and proportion etc. must be very clear to the students. A good teacher will revise significant ideas from these topics according to the needs of his teaching program.

(ii) Problems in mathematics must be realistic and motivating. Mathematics-teaching is largely through solving of problems in the classroom. It is advisable to construct problems having familiar and realistic situations so that students feel motivated in solving them. Traditional and unrealistic problems have done a great harm to the books of mathematics. Data about various aspects of our life can be systematically collected by the teacher to be utilised in

constructing realistic problems

(iii) Problems must be well understood the students before they actually solve them. What is given? What data are relevant and otherwise? How to proceed to solve the problem? Such aspects must be made clear through discussion in the classroom. If a student understands a problem well, half the battle is won and the rest is not a difficult task. A good teacher of mathematics will patiently cultivate such habits among his students.

(iv) Sensible use of black-board in the classroom saves the energy of students and the teacher. The data of problems should be clearly stated on the black-board and the weakest student must receive due encouragement in the classroom. Correct figures, systematic steps of calculation, enunciation of theorems, effective description of formulae etc. go a long way towards purposeful learning of the subject. Coloured chalks have special significance in making the figures meaningful.

(v) It is no use completing a topic for its own sake. Difficult terms definitions etc. must be made clear to the students. I have observed that many students after passing higher secondary classes do not know the difference between 'average' and 'total'; different things as triangles and quardrilaterals, various algebraic formula having similar appearances but different structure.

(vi) Skills of calculation have an important place in mathematics. Enough practice in simplifications, substitutions conversion elimination etc. is very essential for learning of mathematics. Diagnostic test can help the teacher of mathematics discover the weak points of his student. Difficult areas of subject-matter can be selected from various topics and tests prepared on these specific aspects involved in the areas of subject-matter.

(vii A good teacher will encourage his students to solve a problem to its completion, to draw the geometrical figures accurately, to illustrate various formulae in specific phases, to correlate the topics with the needs of daily life and to appreciate the subjectmatter of mathematics as an important instrument in helping our advancement.

(viii) It is always helpful if we can make our students appreciate the complex texture of the subjectmatter of mathematics. As we go from lower to higher classes, we find that the organization of mathematics gets more complex and challenging Regular study habits, critical thinking, problem solving habits, hard work and systematic approach are some of the basic needs for a good student of mathematics. A teacher of mathematics can demonstrate these tratits in his day-to-day teaching for his students to emulate

(ix) Continuons evaluation of learning of mathematics will help the students further. Good tests can function as motivators towards better learning After teaching a topic, a detailed test can be help-ful to inform the teacher about his performance in the class

(x) In a good class room of mathematics students learn to think analytically and develop scientific attitude to face the problem of life realistically

Set theory in mathematics

We should introduce set theory in primary classes so that students get acquainted with this new language of mathematics at an earlier age. The whole mathematics is getting more precise and intelligible due to the use of the language of the set theory. The subject-

matter of geometry is finding greater applications of algebra, and the approach towards mathematical thinking is getting more and more algebraic. New kinds of algebras and new kinds of geometries are being developed to face the new challanges generated by new technologies. Axiomatic approach is helping the mathematicians to build up their own systems of mathematics which are flourishing as serf-contained units.

Our curricula in mathematics should be continually examined and assessed. The quality of school mathematics will ultimately determine the quality of scientific and mathematical thinking in our country. Developing countries can ignore mathematics-education at their own peril. Need for re-thinking about mathematics—education was never so urgent as at present.

इतिहास-शिक्षण : नई आवश्यकता और अपेक्षा

जेठमल सोनी, विद्याधर जोशी

जो क्षण बीत गया, वह अतीत हो जाता है, जो अतीत हो जाता है वह संस्कृति का एक नियामक तत्व बन जाता है और हमारी शिक्षा उसे 'पाठ्य' बनाकर 'पीढ़ियों' को हस्तान्तरित करने का दायित्व सम्भाल लेती है।

यह 'प्रथा' रही है कि जो अतीत है वह विस्मृत न हो जाए, वह भावी के लिए थाती बनकर वैचारिक जगत में जीवित रहे।

वर्तमान सदैव नया होता है। उसका नयापन ही उसे भूतकाल से पृथक करता है, और भविष्य के निर्माण के सूत्र संयोजित करता है। 'इतिहास' का यही इतिहास रहा है।

विद्यालयों में 'इतिहास' एक विषय है।

'विषय' के रूप में छात्रों को उसे 'पढ़ाते' समय हम क्या कुछ तो करते रहे हैं? क्या-क्या करना वांछनीय है? क्या अभीष्ट है, और युगानुरूप या वर्तमान के अनुरूप क्या-क्या उस प्रसंग में मननीय और करणीय शेष है—ये प्रश्न हैं जो आज 'इतिहास शिक्षण' के सामने उपस्थित हैं।

नये युग में मूल्यांकन की नई अपेक्षाओं को दृष्टिगत रखते हुए कहा गया है कि इतिहास-शिक्षण में उद्दिष्ट होना चाहिए :—

१) ऐतिहासिक तथ्यों, घटनाओं, और विवरणों का ज्ञान,

२) ऐतिहासिक मान्यताओं, धारणाओं आदि का अवबोधन;

३) ऐतिहासिक विवरणों के आधार से अभीष्ट समालोचनात्मक दृष्टि-सी का विकास

४) ऐतिहासिक मूल्यों के प्रकाश में जीवनगत व्यवहार कुशलता का विकास,

५) इतिहास-मात्र के प्रति अभिरुचि,

६) स्वस्थ सामाजिक अभिवृत्तियों का विकास।

इन्हें ही उद्दिष्ट मानें और विद्यालयीय अध्यापन-परिपाटियों की इन्हीं कसौटियों पर परख करें तो हम प्रस्थान-भेद की शिकायत करने लगेंगे।

हमारी स्थिति यह है कि विद्यालयों में "इतिहास" विषय के लिए 'पाठ्यपुस्तकें' (या सन्दर्भ-पुस्तकें) निर्धारित होती हैं। उनमें समावेश 'पठन-सामग्री' पर 'प्रश्न' निर्धारित होते हैं।

अपेक्षा यह रहती है कि अध्यापक उन प्रकरणों को ज्ञानात्मक दृष्टि से कक्षा में पढ़ाए और उसके अध्यापन की परिणति मूल्यांकन तथा सम्प्राप्ति-परख में हो जाए। यही कुछ ठिठरन होती है।

क्या हम ज्ञानात्मक पक्ष से आगे बढ़कर ऐतिहासिक मूल्यों के विकास के लिए कुछ आयोजन कर पाते हैं? क्या घटनात्मक सूचनाओं और विवरणों के माध्यम से कुछ 'सामान्यीकरण' सिद्धान्तीकरण' या 'प्रत्यय-निर्माण' कर पाने में उपयुक्त दिशा-निर्देश कर पाते हैं?

इतिहास में घटना, घटना ही होती है किन्तु उसके सूचनात्मक प्रभाव भावात्मक तथा आवेगात्मक भी हो सकते हैं। क्या हम इतिहास शिक्षण में उस तथ्य से अवगत रहकर [illegible] कर पाते हैं?

अच्छी बात है कि हम कक्षाध्यापन को प्रभावी बनाने के लिए, [illegible] चित्रों का उपयोग करते, [illegible] मानचित्रों का उपयोग करते, ऐतिहासिक [illegible] की [illegible] भी किया गये, [illegible] भी बना जाएँ, यात्रा भी करा दें ...... सब बातें उपयोगी हैं जिनसे [illegible] विषय-वस्तु के ज्ञान के लिए [illegible] आधार-भूमि बनती है। किन्तु इतिहास के माध्यम से 'जीवनगत मूल्यों' का विकास कर पाने के लिए हम क्या करते हैं? इतिहास के माध्यम से सद्वृत्तियाँ हम कैसे विकसित कर पाते हैं?

क्या हमारी परीक्षाएँ इन 'सामाजिक' व 'सद्भावना-मूलक' प्रवृत्तियों के मापन-मूल्यांकन की कोई योजना रखती हैं ?... ये प्रश्न विचार करने के हैं। इनके तैयार उत्तर मिलना अभी कठिन है। कक्षा में अध्यापन करते हुए हमें इनके उत्तर भी अभी खोजने होंगे।

एक सिद्धान्त कहता है, 'सामान्यीकरण करना तथा प्राप्त तथ्यों में से सारांश-निचय कर लेना मानव-मस्तिष्क का सहज गुण है।' इसके अनुसार चलें तो जो कुछ भी हम अभी कक्षा में कर रहे हैं वह तो कहीं भी और कोई भी कर ले सकता है। जो छात्र निजी रूप में परीक्षाओं में बैठते हैं, सूचनाएँ तो वे भी किसी न किसी तरह प्राप्त कर ही लेते हैं। वहीं उँगली रखकर क्या हम यह बता सकते हैं कि निजी रूप से 'इतिहास' पढ़ने वाले और विद्यालय में अध्यापक के निदेशन में 'इतिहास' पढ़ने वाले छात्र के बीच अमुक अन्तर रहता है ?

हमें वह 'अमुक' अन्तर अपने अध्यापन-क्रम में विकसित करने की आवश्यकता है। कैसे करें, यह अहम प्रश्न है और उसके लिए सूत्र बने-बनाए नहीं मिलेंगे। हम इतना अवश्य कर सकते हैं कहीं मिल-बैठकर या स्वयं-स्फुरणा से ही इतिहास की पाठ्य सामग्री का 'वैचारिक' और अभिवृत्ति-मूलक विश्लेषण और वर्गीकरण करें। अध्यापन में 'सूचना' के साथ-साथ उससे सम्बन्धित वैचारिक अभिवृत्यात्मक तथा मूल्य-परक पक्ष को भी उभारने की चेष्टा करें। कुछ ऐसा करें कि छात्र के मन में इतिहास की घटना अन्तरंग स्तर पर स्थिर हो जाए और मूल्यात्मक पक्ष चेतन धरातल पर उभर आए। ये दिशाएँ और ऐसी शिक्षण-तकनीकें अभी खोजनी होंगी। हर एक को अपने ढंग से अपने स्तर पर खोजनी चाहिए।

'इतिहास' में घटना तो बीत गई। अब जो जीवित रहने की चीज़ है उसमें वह है उसका 'मूल्य'। हस्तान्तरित करने की चीज़ क्या है यह हम तय करनी होगी हम यानी वे जो उसके लिए तैयार हुए या तैयार किए गये हैं।

यह निश्चयन कैसे होगा ? क्या ऐसे कोई निकष या सूत्र हमारे सामने हैं जो बता सकें कि इतिहास की अमुक-अमुक मूल्य-सामग्री निश्चित की जा सकती है जो 'आज के' युग में हस्तान्तरणीय मानी जाएगी ?

सम्भवतः ऐसे निकष हैं, भले ही वे हमारे चेतन स्तर पर न हों अचेतन या अर्ध-चेतन में हैं। जब हम रोगशाहसूरी के ज़माने के 'बाज़ार भाव' और 'मूल्य नियन्त्रण' के उसके उपाय पढ़ाने लगते हैं तब क्या हम सूचना देकर पाठ की इतिश्री कर देते हैं ? या कुछ और भी उसमें आँकते हैं। जिन निकषों पर हम ऐसा करते हैं वे हमारी 'आज' की स्थिति से जुड़े हुए हैं।

यानी, इतिहास की घटनाओं में मूल्यों का निर्धारण हमारे 'वर्तमान' की जीवन-पद्धति, उसके मूल्य-परक, मानदण्ड तथा हमारे निकटतर भविष्य' की आशा-आकांक्षा पूर्वक ही

होगा। 'निकटतर भविष्य' भी इसलिए कि जिस छात्र को आज हम पढ़ा रहे हैं वह 'आज' का भी है और 'भविष्य' का भी है।

वह 'भविष्य' का है, यानी भावी राष्ट्रीय सम्पत्ति है। राष्ट्र उससे पृथक् नहीं है। वह बनता हुआ राष्ट्र है। इसीलिए राष्ट्रीय आकांक्षाएँ और राष्ट्रीय लक्ष्य भी उस मूल्य-निर्धारण में हमारे निर्देशक और अभिप्रेरक कारण होंगे ही।

हमें तत्काल तो यह दृष्टि-मति 'इतिहास-शिक्षण' में उत्पन्न करनी है और मूल्यात्मक पक्षों को उभारने के लिए इतिहास-शिक्षण की अपनी तकनीकों में परिवर्तन लाना है। तकनीकें बदलेंगी तो मूल्यांकन का स्वरूप बदलेगा। उस सबके लिए हमें 'मार्ग बनाना' है।

नागरिक शास्त्र शिक्षण : एक अभीष्ट दृष्टिकोण

श्रीमती स्वर्ण सूदन

आधुनिक युग ने नागरिक शास्त्र के अर्थ में महान परिवर्तन ला दिया है। आधुनिक युग में यातायात एवं संचार के साधनों ने विश्व को एक इकाई का रूप प्रदान किया है। आज नगर का नागरिक देश या राष्ट्र का नागरिक हो चुका है तथा अपनी विस्तृत सहानुभूति एवं उच्च आदर्शों के साथ विश्व का नागरिक बनने के लिये तत्पर है। नागरिकशास्त्र उन्हें अच्छे सामाजिक जीवन के विषय में बताता है तथा उन्हें इस योग्य बनाता है कि प्रत्येक मनुष्य किस प्रकार अपनी आदतों, रहने के ढंग, कर्तव्यों एवं अधिकारों का समन्वित कर सकता है, जिससे वह सफल सामाजिक जीवन व्यतीत कर सके।

आज सरकार भी कुछ लोगों की विशिष्टताओं पर ही निर्भर नहीं है वरन् सामान्य जनता के नैतिक एवं बौद्धिक स्तरों पर निर्भर होती है जिनके द्वारा सरकार के कार्यों का संचालन किया जाता है। सामान्य जनता को सामाजिक एवं राजनैतिक रूप से जागरूकता प्रदान करने के लिये नागरिक शास्त्र का ज्ञान प्रदान कराना आवश्यक है। इस अवधारणा की पृष्ठभूमि में न केवल नागरिक-शास्त्र-शिक्षण का महत्व ही

यथावश्यक रूप में वह स्वयं विषय की गहन व सूक्ष्म बिन्दु सरल और रोचक विवेचना करे। विवेचना के पश्चात् शिक्षक छात्रों को अपने निरीक्षण और अध्ययन का सार अपने शब्दों में लिखने को कहे। इससे उनकी अभिव्यंजना-शक्ति का भी विकास होगा। निरीक्षण-कार्यक्रम के अन्तर्गत नागरिक-शास्त्र में सामाजिक व्यवहारों रीतिरिवाजों एवं परम्पराओं, जीवन के विविध ढंगों तथा विभिन्न संस्थाओं एवं संगठनों जैसे डाकघर ग्राम पंचायत, नगरपालिका की कार्यवाही, संसद एवं विधान सभा की कार्यवाही स्थानीय मेले उत्सव आदि का निरीक्षण करवाया जा सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'निरीक्षण विधि' नागरिक शास्त्र के अध्यापन की एक महत्वपूर्ण विधि है और समय, सुविधा और परिस्थिति के अनुसार इसका समुचित उपयोग किया जाना चाहिए। किन्तु व्यवहारतया सब कुछ 'निरीक्षण विधि' से सम्पन्न हो सकना, यह आशा नहीं की जा सकती। अतः 'नागरिक शास्त्र' के अध्यापक को चित्र, मॉडल, फिल्म, फिल्म-स्ट्रिप आदि अन्यान्य शैक्षिक उपकरणों के प्रभावी उपयोग को भी कम करके नहीं आंकना चाहिए।

नागरिक-शास्त्र का शिक्षण करते समय निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए —

(१) नागरिक-शास्त्र सम्बन्धी जो भी तथ्य छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया जाय वह सुनिश्चित तथा बोधगम्य होना चाहिए।

(२) नागरिक-शास्त्र की पाठ्यवस्तु का प्रस्तुतीकरण करते समय शिक्षक को सदैव छात्रों की आयु, उनके मानसिक स्तर, विकास, आवश्यकताओं तथा रुचियों का ध्यान रखना चाहिये।

(३) नागरिक-शास्त्र के जिन नियमों तथा सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जाए उनकी व्यावहारिकता पर बल अवश्य दिया जाना चाहिए। छात्र अनुकरण के द्वारा बहुत कुछ सीखते हैं।

(४) नागरिक-शास्त्र की पाठ्यवस्तु का जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्ध स्थापित किया जाये, जिससे छात्र वास्तविक जीवन का ज्ञान उपलब्ध कर सकें

(५) नये तथ्य छात्रों को सर्वप्रथम देख 'चाहिए' का [illegible] फिर [illegible] सामने [illegible] प्रदान किए जायें। उदाहरण के लिए [illegible] का [illegible] की [illegible] अधिक अच्छी [illegible] पूर्वक [illegible] सकेंगे। अतः [illegible] विधान सभा के [illegible] से पूर्व [illegible] होगा। किन्तु [illegible] है [illegible] है। [illegible] के [illegible] किया जा सकता है।

A Plea for Emphasising "Process" in Science Teaching

A. L. [illegible]

It was Kipling who said

"I keep six honest serving men
(They taught me all I know)
Their names are 'what' and 'why' and 'when'
And 'how' and 'where' and 'who'.

This is exactly the spirit which should permeate the entire gambit of teaching-learning effort in Science in our Schools. And yet this 'Spirit of Inquiry' is the main casualty of the high drama, which is enacted day in and day out, in season and out of season, in the name of Science teaching in our Secondary and Higher Secondary Schools. The Science programme at this stage should not be narrowly conceived as a bundle of few facts, concepts, principles and properties etc. to be covered by the teacher in a series of lectures or by its glorious variant lecture cum demonstration technique, which has acquired some respectability. To introduce Science to the students in this way is to

the number of known facts is increasing in Geometrical progression the basic understandings remain relatively few in number.

Scientists owe their growing success during the last 300 years to the way in which they have been able to turn Science into a 'Method'. The strength of the 'method' is that it can be taught and learnt. We cannot teach people how to make great discoveries but certainly we can teach them how discoveries are made. More people have learned to be Scientists in our age than in all human history. It is in this sense that it is said that the greatest discovery made by the Scientist is the Science itself. It is not to belittle the value of the product that this plea for scientific method or Scientific Process is made. Enough scope can be provided for the operation of various processes while discovering the hidden or mysterious law which links various unrelated facts in a meaningful pattern of relationship. Not only would the content learnt under the situation be more permanent and of lasting benefit but the students gain insight into, and practice in, the different methods that Scientists use in solving problems. They also aquire the experience of thinking critically and creatively, proposing hypothesis and testing their validity or otherwise by experimentation. With a slight shift in emphasis or approach, the Secondary Course in Physics, Chemistry or Biology can easily lend itself for the exercise of this technique without any appreciable sacrifice to the content to be covered for the final examination. Another significant gain that accrues automatically with this approach is the cultivation of the scientific-temper, which Scientists attribute as their most precious possession. It is taken for granted that a conscious exercise of this approach would lead automatically to the development of most of the traits that go to make scientific temper. Some sort of 'entelechy' attribute can be assigned to this approach so that many other desirable traits develop concomitantly more especially the 'Scientific temper'.

When confronted with a hypothesis requiring evidence to support or dethrone it, a student gets the training to imbibe the following qualities.

1. He cares only for indisputable evidence.
2. Unless the evidence is so convincing and accumulated in a

manner that all competent people are forced to agree, he suspends judgment.

3. He is so open-minded as to welcome any evidence bearing on the problem even if it goes contrary to the position taken by him. He is as much happy to see his theory demolished as he is to see it corroborated

4. He is actuated and guided by curiosity that cares only for what the new evidence indicates.

Thus we see, besides developing the intellectual faculties like reasoning, thinking, analysis, synthesis, induction, deduction and the intangible qualities like Scientific Temper, involvement of group of skills, both mental and manual a like, locating source materials using source materials, devising suitable demonstrations, interpreting graphic materials etc. is possible when we opt for 'Process Approach' very often in tackling Science lesson. Involvement of mental process and the exercise of mental faculties should be considered as the main yard-stick for the selection of our approach to science teaching in Secondary and Higher Secondary Schools Above all, we have to show how Science has singled out from our traditions, its most powerful moral "that we are judged (and indeed formed) not by the ends we proclaim but by the means we use day by day."

••

Responses to the first question, with the exception of only one, painted a very gloomy picture of the existing state of affairs. The answer invariably was in the negative. This seems to confirm the gravity of the three subsequent questions.

Analysis of responses to the second and third question suggests that the causes of ineffectiveness of Science teaching lie in factors like

a) Non-conformity of the syllabus with the practical needs of the child of today.
b) Non-availability of needed material and equipment for experimentation and demonstration.
c) Non-availability of aids to teaching
d) Non availability of trained personnel.
e) Lack of laboratory facilities
f) Lack of organisational capacities and opportunities to science teachers to organise visits to museums, picnics, hikes, educational tours etc.
g) Side tracking aims and objectives of Science teaching
h) Lack of interest and non-cooperation of the head of the institution.
i) Disinterestedness of students.

The nine factors mentioned above point towards the trend in thinking as well as towards some of the existing conditions. They also indicate the type of suggestions made to remedy the present.

It may be readily seen that while the responses given above point that the science teachers today are really cognizant of the poor condition of teaching, they do not deny the fact that he is a grumbling, helpless, resigned sort of person who would shift the blame of everything on lacks, lacunas and faults external to him.

While one can readily see that none of the observations mentioned under the nine points given above is untrue, they raise another set of very pertinent questions which may not be overlooked.

1) Have we made any efforts to reframe the syllabus of Science in view of the needs of the child?
2) To what extent we as Science teachers use WHATEVER Laboratory facilities and equipment are available in our school (even if they are made quarter in quantity and quality)?

3) If we are untrained do we try, to orient ourselves with the available literature, or if we are trained re orient ourselves in teaching, or do we really and honestly use our training and orientation towards effective teaching ?

4) If aims and objectives of Science teaching are side-tracked, who does it ?

5) Do we honestly make non-science heads of institution understand and appreciate our needs as Science teachers ?

6) While we teach, why do students not feel interested in our teaching ?

As a teacher and teacher-trainer, the author has reflected upon these questions and tried to find the answers which would lead to improve the existing conditions.

With all due apologies to all persons concerned what he has to say is as given below :—

We as science teachers need not get concerned over the reframing of the syllabus for S. I. S. E. and the Board of Secondary Education has already done this job for us and brought the syllabus at par with those of developed countries.

What may sensibly be required of us, however, is to look into the reframed syllabus and be clear as to the aims and objectives of using this new reframed content for developing the desired knowledge and skills in our students.

The two observations just made cover points No. 1, 3 and 4. Having done this much, we shall be able to free ourselves of the blames that we and our colleagues direct towards us.

Enlisting the cooperation of the Head of the institution is purely a human problem. And no set mathematical formula can, in all probability, be advanced to rectify this sort of trouble. One has to depend upon his tactfully handling this sort of problem and hope to win over the Head of the institution by his honest, sincere and hardwork.

Use of available aids to teaching (Point No 2) and disinterestness of students (Point No 6) that, seem to deserve our attention. It would be pertinent to consider the responses to the last of the

asic questions, namely, on difficulties encountered in the application methods advocated by the training institutions, alongwith the two.

On analysis, the causes why the methods taught in the training colleges are not applied in actual class room situations come to bear a ose association with the following :

Teachers believe that by applying these :

1. The prescribed course is not covered within the imposed time limit.
2. Lots of teaching aids are required which are not available in the school.
3. Use of aids involves lacs of expenditure
4. Students donot get interested where taught methodologically.
5. Students, who have not been taught this way, have to switch over to these new ways.

And if we add the two points left over, they come to seven good oints on why the teacher does not make use of what he learns at the raining college.

A further analysis of the seven points mentioned above seem to how that they boil down only to three misgivings.

1) That the course would not be completed in time.
2) That lots of expenditure would be involved if teaching aids are introduced, and.
3) That students do not like interesting teaching. Even on the risk of being disliked for frank observations the following may be said.

Awakened teachers like the author's colleagues in secondary schools know very well, (and this they have confirmed by their responses to the basic questions mentioned in the beginning) that the term course implies not only the content given in the text book, but development of some particular behavioural changes in the student who undergoes the 'course'. At the secondary school stage a student is expected to know the content, to apply his knowledge, to experiment and observe, to develop a reasonable dexterity with his hands and fingers and affect a coordination between eyes and organs of work. If so much is required of a learner, should we consider our completing the formality of reading out, or narrating or even telling what is given in the book ? Should we consider ourselves justified if our

students have been some how made to read and cram up [illegible]
Or, should we try to develop a spirit of enquiry, give a first hand experience of the world around us, make our students handle the evolved apparatus and make them have an intimate knowledge of concepts and things ?

The author feels that if we as teachers started thinking in terms of how we would want our OWN CHILDREN educated in Science, we would chose the last alternative. But this alternative in their own misconception would involve expenditure.

What concerns our teachers perhaps, is not the expenditure, I mean expenditure of money, but expenditure of effort. We must therefore, prepare ourselves for some sacrifice.

Granting that the department does not provide us money, heads of institutions do not bother to purchase costly apparatus, and that our laboratories are insufficiently equipped, we can, I strongly believe, think out ways and means to do our job.

Space does not permit description of myriads of improvisations that are possible and which do not require high technical efficiency on the part of the teacher.

But we could effectively make use of broken bottles, tincans, shoe boxes, discarded tin cylinders, cigarette containers, hair pins, disused balls, film spools and even rubbish that is easily available to demonstrate many of the scientific principles. Germination of seeds can be effectively demonstrated by clay balls, and even fossil formations and changes within the crust of earth demonstrated in a beaker.

What lacks perhaps, is ingenuity which we have but lies dormant in the absence of a sincere wish to statisfy the children's needs as students.

Proceeding with a well found belief in the capacities of our science teachers, the author would like to be emphatic atleast on one score. He knows and, has well considered reasons to believe that, it will [illegible]
they [illegible]
schoo [illegible]
shape before them. Teachers may thus be assured that demonstrations,

opportunities for observations, and invitations to draw inference will never make students disinterested in Science.

One appeal more, and this the author makes with all sincerity. As teachers be clear about what you want to teach,/teach it yourself first, locate areas of difficulty which you as a student yourself would feel, find an original answer, think out how you would understand it yourself. In case of non-availability of apparatus how, with easily available material you could demonstrate it, and the key of successful qualitative teaching will be in your hands.

खण्ड तृतीय

प्रशिक्षण

विषय सूची

शिक्षक प्रशिक्षण :

कुछ ज्वलन्त प्रश्न, कुछ ज्वलन्त समस्याएं

डॉ लक्ष्मीलाल श्रोड

शिक्षा के क्षेत्र मे आज विश्वव्यापी परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के विविध आयाम हैं, यथा, छात्र-नामांकन, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधा इत्यादि। शिक्षा का कार्य आज इतना आसान नहीं रह गया कि कोई भी व्यक्ति, जिसने माध्यमिक शिक्षा अथवा विश्व विद्यालयी शिक्षा प्राप्त की हो, वह अध्यापन का कार्य भी कर सके। अध्यापन कार्य एक विशिष्ट प्रकार का व्यवसाय बनता जा रहा है, जिसके लिये कुछ विशिष्ट प्रकार का ज्ञान, दक्षताएं मनोवृत्तियाँ तथा रुझान चाहिये और इसलिये आज के युग मे शिक्षक व्यवसाय मे प्रवेश करने की आकांक्षा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रशिक्षण आवश्यक माना जाता है। विश्व के सभी समुन्नत तथा प्रगतिगामी देशो में अप्रशिक्षित व्यक्ति शिक्षक-व्यवसाय में प्रवेश नहीं पा सकता। हमारे देश मे भी शिक्षक प्रशिक्षण अब अनिवार्य हो गया है, परन्तु ऐतिहासिक परम्पराएँ आज भी इस विचार को आगे बढ़ाने मे अवरोधक हो रही है।

प्रशिक्षण की उपादेयता—

आधुनिक शिक्षा की संरचना तथा उससे संबंधित परम्पराएँ हमें ब्रिटिश राज से प्राप्त हुईं। कुछ दशाब्दियों पूर्व इंग्लैंड में भी शिक्षक के लिये प्रशिक्षित होना आवश्यक नहीं था, और अभी भी अनेक पब्लिक स्कूलों में ऑनर्स ग्रेजुएट्स को प्रशिक्षित स्नातक-शिक्षक की तुलना में अधिक पसन्द किया जाता है। उन्हीं परम्पराओं का अनुसरण करते हुए भारतवर्ष में भी अप्रशिक्षित शिक्षकों को नियुक्त करने की परम्परा आरम्भ हुई, फलत. कक्षाध्यापन के आधार मनोवैज्ञानिक सिद्धांत न बन कर "त्रुटि व प्रयत्न" "अन्तर्दृष्टि" तथा "पूर्वानुकरण" बने। शिक्षकों ने अपनी छात्रावस्था में जिस प्रकार पढ़ा था, उसी प्रकार उन्होंने अपने छात्रों को पढ़ाना आरम्भ किया। कुछ वर्षों "त्रुटि व प्रयत्न" के द्वारा अथवा स्वयं की सूझ-बूझ के आधार पर निर्मित हुईं।

मानव प्रकृति में यथासम्भव स्वल्प कष्ट-साध्य विधाओं को अपनाने की वृत्ति होती है, फलत. अप्रशिक्षित अध्यापकों द्वारा जो विधाएँ विकसित हुईं, (जिन्हें हम परम्परागत विधाएँ, कह कर तिरस्कृत करते हैं, यद्यपि वे ही आज भी एक मात्र प्रचलित विधाएँ हैं।) वे अध्यापक के न्यूनतम श्रम पर आधारित थीं। जब प्रशिक्षण का युग आरम्भ हुआ, तो प्रारम्भ में वे लोग प्रशिक्षित किये गये, जो सेवारत अप्रशिक्षित थे। जिन विधाओं को उन्होंने वर्षों तक सहेज कर रखा, उनका सहज त्याग करना उनके लिये सभव नहीं था। प्रशिक्षण की अवधि इतनी कम थी कि उस समय में पुराने सस्कार को मिटा कर नये सस्कार डालना अत्यन्त दूभर कार्य था, फलतः प्रशिक्षण काल की विधि प्रशिक्षण अभ्यास पाठों तक ही सीमित रह कर, विद्यालयों तक पहुँच नहीं पाईं। प्रशिक्षण महाविद्यालयों की विधियाँ कष्ट साध्य अधिक थीं, और प्रशिक्षण काल में दिये गये अभ्यास पाठों के कारण जो मानसिक कष्ट तथा भर्त्सना की अनुभूति प्रशिक्षार्थियों को हुई होगी, उसने इस प्रकार की मानसिक कुंठाएँ उत्पन्न कीं कि प्रशिक्षण कालीन विधियों के प्रति शिक्षकों में एक विकर्षण ही उत्पन्न हुआ, तथा उन्होंने अपने सेवाकाल में उन्हें कभी प्रयुक्त न करने का निश्चय किया।

इस दुरावस्था एवं दुरवस्था का एक और कारण यह भी रहा कि प्रशिक्षण अभ्यास पाठ आदर्श परिस्थितियों में, पूर्ण मार्ग दर्शन तथा पर्याप्त परिश्रम के पश्चात् एक दिन में एक या दो देने पड़ते थे। सेवा काल की वास्तविक परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की थीं। विद्यालय का भौतिक तथा सामाजिक वातावरण आदर्श नहीं था, साधन-सुविधाएँ उस प्रकार उतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं थीं, जितनी प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्राप्त थीं। फलत: शिक्षकों ने इसे अनुपलभ्य आदर्श मान कर छोड़ दिया तथा केवल यदा-कदा निरीक्षण के समय प्रदर्शन पाठ के रूप में उक्त विधि का प्रयोग किया जाने लगा।

इसके बाद वह युग आया, जब शिक्षण-सेवा में प्रवेश करने के पूर्व ही लोग प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे। शिक्षण-तत्परता तथा शिक्षण-प्रभाविता की दृष्टि से यह स्थिति अधिक अनुकूल थी, क्योंकि पुराने संस्कारों को मिटा कर नये संस्कार डालने

की समस्या यहां नहीं थी, फिर भी प्रशिक्षण कला विद्यालय की कक्षाओं तक नहीं पहुँच पाई। प्रशिक्षित अध्यापक ने प्रारम्भ में तो कुछ दिन उन विधाओं का प्रयोग किया, परन्तु परम्परागत प्रणाली के परिपोषक "गुरु देवों" का नैतिक या अनैतिक दबाव इतना प्रबल हो गया कि नव प्रशिक्षित अध्यापक के पाँव उखड़ गये, और न्यूनतम श्रम का मार्ग उसने भी अपनाना आरम्भ किया। यही कहानी प्रति वर्ष आज भी उसी रूप में दुहराई जाती है, और प्रशिक्षण महाविद्यालय के अन्दर और बाहर इस बात की खुल कर आलोचना की जाती है कि प्रशिक्षण काल में सीखी हुई विधियां तथा ज्ञान विद्यालय की वास्तविक परिस्थितियों में प्रयुक्त नहीं होते, नहीं हो सकते। विगत दशाब्दि में कुछ अनुसंधानाओं ने यह पता लगाने का प्रयत्न किया कि प्रशिक्षण महाविद्यालयों में दिये जाने वाले सैद्धान्तिक ज्ञान तथा कक्षा-अध्यापन के बीच क्या कोई सम्बन्ध है। सभी अनुसंधानों का निष्कर्ष यही है कि सांख्यिकीय दृष्टि से सैद्धान्तिक ज्ञान तथा कक्षा अध्यापन के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है अथवा सम्बन्ध नगण्य है। व्यावसायिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में पढ़ाये जाने वाले प्रत्येक प्रश्न-पत्र के प्राप्तांकों तथा प्रकाश पाठ परीक्षा के प्राप्तांकों के मध्य सहसम्बन्ध अत्यन्त न्यून दिखाई दिया। यहां तक कि शिक्षण विधियों से सम्बन्धित प्रश्न पत्र के प्राप्तांकों का उक्त विषय के अध्यापन के प्राप्तांकों के बीच भी सहसम्बन्ध अत्यन्त न्यून दिखाई दिया।

एक बार एक विद्यालय में जाकर कुछ पर्यवेक्षकों ने विभिन्न शिक्षकों का कक्षाध्यापन देखा। उक्त पर्यवेक्षकों को यह पता नहीं था कि कौनसा शिक्षक प्रशिक्षित है और कौन अप्रशिक्षित। सभी अध्यापकों के कक्षाध्यापन को देखने के पश्चात् उनसे पर्यवेक्षित कार्य के मूल्याङ्कन के आधार पर अध्यापकों को प्रशिक्षित अप्रशिक्षित के वर्गों में बांटने के लिये कहा गया। उनके द्वारा जो वर्गीकरण किया गया, उसके आधार पर प्रशिक्षित तथा अप्रशिक्षित अध्यापकों के कक्षा अध्यापन में कोई अन्तर नहीं था।

इन सब आधारों पर अब प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अस्तित्व को चुनौती दी जाने लगी है। यह प्रश्न पूछना असंगत नहीं है कि जिस प्रशिक्षण का कक्षाध्यापन के लिये कोई महत्व नहीं, उसे देने से क्या लाभ ? प्रशिक्षण महाविद्यालयों पर किया जाने वाला सार्वजनिक व्यय क्या अपव्यय नहीं है ?

उक्त अनुसंधानों तथा अवलोकनों के आधार पर यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि कक्षाध्यापन पर प्रशिक्षण का कोई प्रभाव न होने के कारण, प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है, तो इस प्रकार का निष्कर्ष दोषपूर्ण होगा। इस प्रकार के निष्कर्षों को यदि अन्य क्षेत्रों पर भी लागू किया जाये, तो सामाजिक जीवन ठप्प हो जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित नहीं हो सकी, इस कारण संयुक्त राष्ट्र संघ को बन्द नहीं किया जा सकता। नागरिक शास्त्र के अध्ययन से भी लोग अच्छे नागरिक नहीं बनते, इस कारण नागरिक शास्त्र पाठ्यक्रम से निकाला नहीं जा सकता। यदि ईसा के अनुगामी दयाशील नहीं हो पाते, तो ईसाई धर्म निषिद्ध नहीं हो जाता। यदि स्वतन्त्रता, समानता

तथा सामाजिक न्याय सार्वत्रिक नहीं हो जाता, तो इस कारण लोकतन्त्र का परित्याग नहीं कर दिया जाता।

विकल्प यह नहीं है कि प्रशिक्षण होना चाहिये अथवा नहीं। शिक्षक प्रशिक्षण तो शिक्षक-व्यवसाय में प्रवेश करने के लिये अनिवार्य है ही। अब प्रश्न यह है कि इसका आयोजन किस प्रकार किया जाये, जिससे कि यह प्रभावी बन सके, अर्थात् प्रशिक्षण काल में सीखे हुए ज्ञान का विद्यालय की कक्षाओं मे पढ़ाते समय प्रयोग किया जा सके।

विगत कुछ वर्षों मे शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान इस समस्या का हल खोजने की दिशा मे आकृष्ट हुआ है। इटर्नशिप अथवा ब्लॉक प्रेक्टिस टीचिंग, सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम, अनुवर्ती कार्य आदि कुछ इस प्रकार के प्रयास हैं, जो शिक्षक प्रशिक्षण को अधिक प्रभावी बनाने मे योग दान कर सकते हैं। इनकी प्रभावान्विता का मूल्यांकन समय-समय पर करने की आवश्यकता है। इन उपायों के बावजूद, आज भी यह कहना तो मानो फैशन सा हो गया है कि प्रशिक्षण महाविद्यालय की विधियाँ, विद्यालयों में प्रयोग के लिये अव्यावहारिक हैं। बार-बार इस प्रकार कहने से नकारात्मक मनोवृत्ति का विकास होता है। जो शिक्षक ईमानदारी से विधिपूर्वक पढ़ाना चाहता है, वह भी बार-बार इस उक्ति को सुन कर पस्त हिम्मत हो जाता है, और इस कथन को ही सच मान लेता है।

आज मूल समस्या अशुभ की शुभ पर हावी होने की है। जो शुभ है, जो सत्य है, जो श्रेयस्कर है, उसकी स्थिति बचाव पक्ष की सी हो जाती है, तथा अशुभ, असत् एवं प्रेयस् उस पर छाने लगते हैं, उसे लीलने लगते हैं, और परिणाम यह होता है कि सत्य दब जाता है, और असत्य ही अस्तित्व मे रह जाता है। आज की मूल समस्या उस नव-प्रशिक्षित अध्यापक की उन पुरातन रवियों से रक्षा करने की है। यदि यह हो सके तो स्थिति में सुधार लाया जा सकता है।

एक प्रश्न और विचारणीय है, और वह है कि क्या कोई प्रशिक्षण महाविद्यालय की विशिष्ट विधि (The method) है, जो सामान्य विद्यालयों की विधि से भिन्न है? वस्तुतः प्रशिक्षण विद्यालय तो उन्हीं सिद्धान्तों को सामान्यीकृत कर प्रस्तुत करते हैं जो पृथक-पृथक कक्षा-परिस्थितियों से उद्भूत होते हैं। अतः यह प्रश्न भी समाप्त होना चाहिये कि प्रशिक्षण महाविद्यालयों की कोई पृथक विधि है, जो [illegible] है, अथवा [illegible] है। प्रत्येक विधि [illegible], [illegible], तथा [illegible] [illegible] होती है, या "[illegible]" जैसी किसी विधि की हमें [illegible] भी नहीं करनी चाहिये।

[illegible] स्तर—

[illegible] महाविद्यालयों व [illegible] स्तर के [illegible] में सर्वत्र यह शिकायत है कि [illegible] विश्वविद्यालय की [illegible] के लिये तैयार करने वाले [illegible]

महाविद्यालयों के स्तर से निम्नतर होता है। जब किसी महाविद्यालय के अकादमिक स्तर की बात कही जाती है तो उसका आशय होता है पढ़ने तथा पढ़ाने वालों का अकादमिक स्तर। कतिपय कारणों से इस प्रवाद में सच्चाई भी है, अतः उन कारणों का विश्लेषण पहले किया जाये।

१. प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्राय वे शिक्षार्थी प्रवेश प्राप्त करते हैं जिनका अकादमिक स्तर नीचा होता है, अथवा जिन्हें अन्यत्र सेवा के अवसर न्यून दिखाई देते हैं।

२. प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्रवेश लेने वाले सेवारत अध्यापकों की शिक्षा प्राय निजी तौर पर हुई होती है उन्हें महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने का अनुभव नहीं होता अतः पुस्तकालय-प्रयोग की उन्हें आदत नहीं होती।

३. सेवारत अध्यापकों के लिये प्रशिक्षण प्रमाण पत्र अग्रोन्नति के लिये पर्याप्त होता है, अध्ययन करने की ओर वे प्राय. उन्मुख नहीं रहते। फिर परिवार सम्बन्धी उत्तरदायित्व तथा आर्थिक कठिनाइयाँ भी उनके अध्ययन में बाधक बनती हैं।

४ प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अध्यापक भी प्राय सेवारत वरिष्ठ अध्यापकों में से चयित किये जाते हैं, अतः अकादमिक स्तर में उनकी स्थिति भी वही होती है जो कि प्रशिक्षार्थियों की।

५. प्रशिक्षण महाविद्यालयों के शिक्षकों से दो प्रकार की अपेक्षाएँ रखी जाती हैं, एक ओर उन्हें विद्यालयी विषय (जिसमें अपेक्षा रखी जाती है कि वे एम ए., एम. एस सी. या एम कॉम हों) में निष्णात होना चाहिये, तथा दूसरी ओर उन्हें उक्त विषय की शिक्षण-विधि तथा अन्य व्यावसायिक शिक्षा के विषयों में निष्णता होनी चाहिये। प्रशिक्षण अवधि की लघुता के कारण प्राय आग्रह व्यावसायिक विषयों के अध्यापन पर रहता है, फलत कालान्तर में विद्यालयी विषयों का ज्ञान पुराना पड़ता जाता है तथा प्रशिक्षण महाविद्यालय के अध्यापक अकादमिक ज्ञान की दृष्टि से अन्य प्राध्यापकों के समकक्ष नहीं बैठते। शिक्षण-विधि विषय से इस प्रकार सम्बद्ध होती है कि विषय ज्ञान के पूर्ण परिपाक के अभाव में विधि भी प्रभाव शून्य बन जाती है। वस्तुतः न्यून परिश्रम का सिद्धान्त यहां भी अपना प्रभाव छोड़ता है और प्रशिक्षण महाविद्यालय का अध्यापक यह कहकर अपना बचाव कर लेता है कि उसका कार्यक्षेत्र 'शिक्षण विधि' है अथवा 'व्यावसायिक शिक्षा' है न कि 'अकादमिक विषय'।

६. प्रशिक्षण काल की अवधि इतनी छोटी होती है कि प्रशिक्षार्थियों के विषय-ज्ञान की क्षतिपूर्ति करने के लिये गुंजाइश नहीं रहती। यद्यपि इन दिनों विषय-ज्ञान भी प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम में समाहित किया गया है, परन्तु वह केवल उस

स्नातक के लिये लागू नहीं होता है। शिक्षा शास्त्र का आधार वही मूल है, जो किसी प्रशिक्षार्थी ने अपनी स्नातक या अधिस्नातक उपाधि के लिए निर्मित किया हो। प्रशिक्षण महाविद्यालयों की यह बड़ी दुविधा है कि उन्हें उन स्नातकों का भागी बनाया जाता है, जो उनके कारण नहीं है।

वस्तुत प्रशिक्षण महाविद्यालय तो विभिन्न कला-विज्ञान-वाणिज्य संकायों पर रहती है। यों कहा जाये तो बी. एड. उपाधि कला, विज्ञान अथवा वाणिज्य की उपाधि का विस्तार मात्र है, अन्यथा एक वर्ष की स्नातक उपाधि की कल्पना करना ही दुष्कर सा लगता है। कुछ देशों मे कला, विज्ञान, आदि के समान शिक्षा संकाय का अध्ययन भी माध्यमिक शिक्षोपरान्त होता है तथा चार वर्ष के पश्चात् बी. ए. बी. एस. सी के समान बी. एड की उपाधि भी अर्जित की जाती है, इसी प्रकार का प्रयास हमारे देश में क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयो मे तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में प्रारम्भ हुआ था परन्तु उनमें यह प्रयोग असफल रहा, और क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय ने भी सामान्य प्रशिक्षण महाविद्यालयों के समान ही एक वर्षीय स्नातकोत्तर प्रशिक्षण उपाधियाँ प्रारम्भ कर दी। प्रयोग की असफलता का कारण यह बतलाया जाता है कि चतुर्वर्षीय पाठ्यक्रम द्वारा अर्जित उपाधि वाले ये स्नातक योग्यता की दृष्टि से विज्ञान, वाणिज्य, तकनीकी आदि क्षेत्रों मे अर्जित प्रथम उपाधि के समकक्ष नहीं होते। आश्चर्य तो यह है कि इन्हें पढ़ाने वाले अध्यापक शिक्षक-प्रशिक्षक न होकर कला, विज्ञान, वाणिज्य, तकनीक आदि के आचार्य होते हैं, जिनका विश्व विद्यालयों की संबंधित संकायों से चयन, किया जाता है तथा छात्र भी योग्यता के आधार पर चयित होते हैं। क्या शिक्षा महाविद्यालय के नाम में ही कुछ ऐसा स्पर्शजन्य दोष है, कि यहां आते ही शैक्षिक स्तरों मे गिरावट आ जाती है ?

ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व विद्यालय से पृथक् भी और किसी रूप से संबंधित भी प्रशिक्षण महाविद्यालयों का अस्तित्व शैक्षिक पर्यावरण में समायोजित हो नही पाता। विश्वविद्यालय से संबंधित होने के कारण इसके स्तरों की तुलना विश्व-विद्यालय की अन्य उपाधियो के साथ की जाती है, जो द्विवर्षीय, त्रिवर्षीय तथा चतुर्वर्षीय हैं, जबकि बी. एड. उपाधि एकवर्षीय है। दूसरी ओर विश्वविद्यालय से इसका पार्थक्य इसे शैक्षिक जगत् मे एक टापू का रूप दे देता है, जिसका सबंध मूल भूमि से नहीं रह पाता, फलत. विश्वविद्यालय स्तरीय आचार्यों का भी प्रशिक्षण महाविद्यालय मे आकर अपने मुख्य विषय से संबंध छूट जाता है, तथा वे भी उसी धुरी के साथ बँध जाते हैं। शिक्षा संकाय को विश्वविद्यालय की अन्य संकायो के साथ संयुक्त करके ही इसके स्तरों मे सुधार लाया जा सकता है। इसका उल्लेख आगामी पृष्ठो में और विस्तार के साथ करने का प्रयत्न करूंगा।

शिक्षा डिसिप्लिन के रूप मे :

"शिक्षा" अन्य विषयो के समान डिसिप्लिन का दर्जा प्राप्त नही कर सकी, इसके कई कारण हैं। प्रमुख कारण तो यही है कि "शिक्षा" अन्य विषयो पर निर्भर करती

है, इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। क्या हम विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले विषयों से पृथक् किसी शिक्षक प्रशिक्षण की कल्पना कर सकते हैं ? किसी अध्यापक को प्रशिक्षित करने का आशय उसे विद्यालय के कतिपय विषयों को कक्षा में सुचारु रूप से पढ़ाने के लिये तैयार करना। प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों का प्रशिक्षण कदाचित् औपचारिक विषयों से इतना आबद्ध न भी हो, तो भी उनसे सर्वथा मुक्त कदापि नहीं है। यदि केवल व्यावसायिक विषयों को लिया जाये तब भी उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व दिखाई नहीं देता। वे सभी दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान अथवा किसी अन्य डिसिप्लिन से सबद्ध हैं। यदि यह सत्य है कि शिक्षा पृथक् से कोई डिसिप्लिन नहीं है तो इससे सम्बद्ध प्रश्न उठता है कि क्या पृथक् से इसके लिये किसी संकाय की आवश्यकता भी है। जब शिक्षा अन्य डिसिप्लिनों के एक अंग के रूप में व्याप्त है तो उक्त विषयों के विशेषज्ञ ही क्यों न शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य करें। शिक्षा दर्शन क्यों न दर्शन शास्त्र के अध्यापक द्वारा पढ़ाया जाये, शिक्षा मनोविज्ञान भी क्यों न मनोविज्ञान का प्राध्यापक पढ़ाये ? भौतिक शास्त्र का प्राध्यापक ही भौतिक शास्त्र की अध्यापन विधि भी क्यों न पढ़ाये ? इस प्रकार के विचार पश्चिमी देशों में तथा इस देश में भी जोर पकड़ते जा रहे हैं, और इनका अभिप्रेतार्थ होगा शिक्षा महाविद्यालयों के अस्तित्व को समाप्त करना। इसके बाद जो आने वाला विचार है—शिक्षण विधि की आवश्यकता ही क्या है ? विधि तो विषय ज्ञान में अन्तर्हित ही होती है ? और अन्त में हम पुनः उसी निष्कर्ष पर पहुँच जायेंगे, जहाँ से प्रश्न प्रारम्भ किया था कि शिक्षक प्रशिक्षण की आवश्यकता ही क्या है ? "विश्वविद्यालय की ऑनर्स उपाधि कई प्रशिक्षणों से सहस्र गुना बेहतर है !"

शिक्षक प्रशिक्षण एव विश्वविद्यालय :

सगठनात्मक दृष्टि से शिक्षक प्रशिक्षण को विद्यालयी शिक्षा के साथ सयुक्त किया जाता है, यद्यपि प्रशिक्षणोपरान्त प्रमाणीकरण विश्वविद्यालयों द्वारा किया जाता है अभी तक हमारे विश्वविद्यालय "आयवरी टॉवर" रहे हैं, जिन्हें विद्यालयी शिक्षा से कोई सरोकार नहीं रहा। यदि समाजशास्त्र विभाग के माध्यम द्वारा विश्वविद्यालय समुदाय तक पहुँच सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि "शिक्षा सकाय" के माध्यम द्वारा वे प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालय तक क्यों नहीं पहुँच सकते ? मेरा प्रस्ताव है कि सभी प्रकार तथा सभी स्तरों के शिक्षक तैयार करने का दायित्व विश्वविद्यालयों को लेना चाहिये, तथा प्राथमिक एव माध्यमिक शिक्षा निदेशालय का संबंध विश्वविद्यालय से वही होना चाहिए जो कि उच्च शिक्षा निदेशालय का अथवा आयुर्विज्ञान निदेशालय का होता है। इससे अधिक या न्यून और कुछ नहीं।

जिस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् छात्र विभिन्न सकायों में प्रवेश प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार शिक्षा सकाय में भी प्रवेश की व्यवस्था रहे। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रमों की अवधि, एक वर्ष से लेकर छः सात वर्ष तक रहती हैं, उसी प्रकार के पाठ्यक्रम शिक्षा सकाय में भी रहें, और जिस प्रकार अन्य सकायों में उपक्रम होता है तथा एक सोपान से दूसरे सोपान की ओर बढ़ने का प्रयास किया जाता है, उसी प्रकार

शिक्षा संकाय में भी हो। अन्य संकायों की भांति शिक्षा संकाय में भी विशिष्टीकरण के प्रावधान रहें। शिक्षा संकाय के छात्र के लिये यह भी सुविधा रहे कि वह इच्छित शिक्षा संकाय तथा अन्य विषय संकायों से ग्रहण कर सके। इस प्रकार की व्यवस्था से प्रशिक्षण महाविद्यालयों का पार्थक्य दूर हो सकता है, उन्हें हीनभावना से मुक्त किया जा सकता है, शिक्षा की उपाधि को अन्य समकक्ष उपाधियों के साथ तुलना में समान [illegible] सकता है, तथा शिक्षा को विश्वविद्यालय की प्रमुख धारा के साथ संयुक्त किया जा सकता है।

विश्वविद्यालयी शिक्षा के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—प्रथम तो ज्ञान का विस्तार, प्रसार तथा उत्पादन, एवं द्वितीय विभिन्न कार्यों के लिये शिक्षित व्यक्ति तैयार करना। इनमें शिक्षक शिक्षा प्रशिक्षण का उद्देश्य केवल द्वितीय रह जाता है, और यदि प्रशिक्षित व्यक्ति अध्यापक नहीं बनता अथवा नहीं बन पाता, तो उसे अपव्यय की संज्ञा दी जाती है, जबकि यदि राजनीति शास्त्र का एम. ए. राजनीति में नहीं जाता तो उसे कोई अपव्यय नहीं कहेगा। बी. कॉम. वाणिज्यीय क्षेत्र में न जाकर भी दुखित नहीं होता, परन्तु बी. एड. करने के पश्चात् भी शिक्षक न बनने पर घोर निराशा होती है। बी. ए. के ३ वर्ष अपव्यय नहीं माने जाते, परन्तु बी. एड. का एक वर्ष घोर अपव्यय कहा जाता है। इसका कारण उद्देश्य की संकीर्णता है। इस संकीर्णता से इसे "मुक्त" करना है, और यह तभी सम्भव है, जबकि इसे विश्वविद्यालय की प्रमुख धारा से संयुक्त किया जाये।

पत्राचार पाठ्यक्रम :

विश्वविद्यालय से संयुक्त करने के साथ एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस प्रकार अन्य संकायों में निजी तौर पर अथवा पत्राचार द्वारा परीक्षा पास करने का प्रावधान है, क्या शिक्षा संकाय में भी यह पद्धति लागू करना उपादेय होगा। इसी [illegible] अनुसरण पर हमारे देश में भी "शिक्षक प्रशिक्षण पत्राचार पाठ्यक्रम" द्वारा [illegible] जाने लगे हैं। [illegible] विश्वविद्यालय शिक्षा संकाय में प्रतिवर्ष १००० छात्र [illegible] पाठ्यक्रम में पंजीकृत करने की योजना बना रहा है। इस सम्बन्ध में उल्लेख [illegible] दिया जाता है।

[illegible]

आर्थिक परिस्थिति आदि अन्य बहुत सी बातों का भी प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों में यदि कोई न्यूनता हो तो एक कुशल अध्यापक उसकी न्यूनाधिक पूरा कर सकता है किन्तु यदि ये सारी बातें हों और अध्यापक उनका सही उपयोग न कर सके तो उनकी उपयोगिता सीमित हो जाती है। अतएव यह स्पष्ट हो गया कि शिक्षा को सफल बनाने में शिक्षक का स्थान अन्य कोई भी तत्व नहीं ले सकते। ये तो केवल शिक्षक की कार्य कुशलता बढ़ाने में सहायक है।

अब चूंकि माध्यमिक शिक्षा सम्पूर्ण शिक्षा संगठन की रीढ़ है अतएव इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में माध्यमिक शिक्षक की कुशलता, सफलता एवं तद्विषयक तैयारी–प्रशिक्षण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग हुआ।

माध्यमिक शिक्षकों की दीक्षा देश में प्रायः लगभग सौ वर्ष से चल रही है। इसका समारम्भ शिक्षकों को अंग्रेजी भाषा तथा यूरोपीय दर्शन एवं विज्ञानों में निष्णात करने के लिए हुआ था। धीरे धीरे जब विश्वविद्यालयों स्नातक-पाठ्यक्रमों में उपर्युक्त कार्य होने लगा तो प्रशिक्षण में वे तत्व आये जिनका विकसित स्वरूप आज हमारे सामने है, अर्थात् शिक्षण विधियां, शाला संगठन, शिक्षा-दर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान आदि। एक बात इस क्रम से स्पष्ट हो जाती है कि प्रशिक्षण का स्वरूप शिक्षा जगत् की आवश्यकताओं के अनुरूप ढलता है। ब्रिटिश कालीन प्रशिक्षण में उन बातों पर बल था जो अपेक्षित पाठ्यक्रम में दक्ष अध्यापक को पढ़ाने कार्य में पटु बनाने तथा बालकों का मार्ग दर्शन करने में सक्षम बनाने के लिये आवश्यक थी। अतएव उन्हें शिक्षा-दर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान एवं उनसे प्रभावित तथा उद्भावित शिक्षण विधियों की जानकारी दी जाती थी। इस प्रशिक्षण के दार्शनिक आधार में कोई त्रुटि नहीं थी किन्तु व्यावहारिक स्तर पर एक न्यूनता थी। शिक्षण-विधियाँ शिक्षा-दर्शन एवं शिक्षा-मनोविज्ञान के विकास से पूर्णतया प्रभावित नहीं थी, तथा अध्यापक प्रशिक्षण काल में सैद्धान्तिक पक्ष को कक्षा में व्यावहारिक कार्य से जोड़ नहीं पाते थे। यह कमी अभी भी खटकती है, अर्थात् शिक्षा जगत् के नवीनतम अनुसंधानों के आधार पर प्रशिक्षण का सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम अनुप्राणित नहीं होता तथा शिक्षा सिद्धान्तों एवं पाठन विधियों को छात्राध्यापक कक्षा एवं शाला कार्य से सबंधित नहीं देख पाते।

दूसरी ओर नये युग की नई अपेक्षायें भी सामने आ रही हैं। ब्रिटिश कालीन शिक्षा—माध्यमिक एवं उच्च-का आधार वर्ग-शिक्षा था। अतएव जो विद्यार्थी पिछड़ जाते अथवा फेल होकर शाला छोड़ जाते उनके बारे में साधारण मान्यता थी कि वे इस उदार शिक्षा के अधिकारी नहीं हैं। अब ऐसी मान्यता नहीं चल सकती क्योंकि शिक्षा आर्थिक एवं सामाजिक क्रान्ति द्वारा समानता एवं स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की प्रतिपादक है। अतएव उन सभी बच्चों को माध्यमिक शिक्षा आवश्यक है जो अभी तक इस क्षेत्र में न आये हों। संवैधानिक अपेक्षा है कि १४ वर्ष तक सभी बच्चों की शिक्षा का प्रबंध हो। शिक्षा आयोग (१९६४-६६) ने दबे शब्दों में प्रायः १० वर्षीय शिक्षा सभी के लिये आवश्यक

इस परिप्रेक्ष्य मे अब हम सोच सकते है कि माध्यमिक प्रशिक्षण में क्या नये परिवर्तन आने चाहियें ताकि उसका अभिनवीकरण सम्भव हो। बड़ौदा रिपोर्ट तथा शिक्षा आयोग ने इस ओर स्पष्ट निर्देश किये हैं। सबसे पहिली आवश्यकता है कि प्रशिक्षण विद्यालयो का विश्वविद्यालयो के अन्य विभागो तथा स्कूलो से आपसी सम्बन्ध सुधरे। इससे क्या लाभ होंगे ? विश्वविद्यालय की मुख्य धारा के निकट आने से प्रशिक्षको का अपने विषय—इतिहास, विज्ञान आदि का ज्ञान अधुनातम रहेगा, उनमे अनुसंधान एवं पढ़ने तथा चर्चा करने की प्रवृत्ति को बल मिलेगा। संक्षेप में यह प्रशिक्षक को विद्वान के लक्षणो से भूषित करेगा।

शालाओ से सम्पर्क द्वारा प्रशिक्षक अपने कार्य की यथार्थ आवश्यकताओ को समझ सकेंगे तथा प्रशिक्षण महाविद्यालय एवं शाला के बीच की खाई पटेगी। अभी छात्राध्यापको को अक्सर यह कहते सुना जाता है कि प्रशिक्षण मे बताई पाठनविधियाँ वहीं छोड़ आने के लिये हैं। इस अन्तरंग सम्बन्ध से अध्यापक एवं प्रशिक्षक ने विचार विनिमय के माध्यम से पाठन विधियाँ अधिक सजीव एवं उपयोगी बन सकेंगी। साथ ही प्रशिक्षण काल मे बताई जाने वाली सभी पाठन-विधियो को छात्राध्यापक व्यवहार रूप मे देख सकेंगे। कक्षाध्यापक प्रशिक्षक के कार्य में साझीदार बन जायेगा अतएव प्रशिक्षण का ही स्तर नहीं सुधरेगा शाला का स्तर भी ऊँचा उठेगा।

दूसरे शब्दो में एक ऐसी परिस्थिति बननी चाहिये कि स्कूल एवं प्रशिक्षण महाविद्यालय एक ही भाषा बोलें और छात्राध्यापक अपने सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम के अधिकांश का शालाकार्य से स्पष्ट सम्बन्ध देख सकें।

यदि प्रशिक्षण महाविद्यालयो का आपसी सम्बन्ध दृढ़ हो तो प्रशिक्षण पाठ्यक्रम इस प्रकार बदला जा सकेगा कि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता अधिकतम हो। शिक्षा सिद्धान्त एवं शिक्षा मनोविज्ञान अधर म लटकने अथवा छात्राध्यापक के व्यक्तिगत ज्ञान के लिये ही नहीं है, इनका शाला एवं कक्षा के कार्य से सीधा सम्बन्ध है, अतएव इन्हे इस प्रकार पढ़ाया जाना चाहिये कि यह सम्बन्ध उभरे। अन्य देशो म ऐसा हो रहा है।

इसी से सम्बद्ध एक बात और है कि शालानुभव काफी लम्बा होना चाहिये ताकि छात्राध्यापक शाला के सभी कार्यों को करने की क्षमता ही न प्राप्त करले वरन् उनके सैद्धान्तिक आधारो को भी स्पष्टतया समझ ले।

अन्त में प्रत्येक प्रशिक्षण महाविद्यालय एक अनुसंधान-केन्द्र-सा होना चाहिये जहाँ सघन शिक्षण-विधियो का निर्माण एवं परीक्षण सम्भव हो। प्रशिक्षको की अपनी मासिक गोष्ठी होनी चाहिये जिसमें नवीनतम प्रयोगो की चर्चा हो जो उन्होंने स्वयं किये हों अथवा जिनके बारे में उन्होंने कहीं पढ़ा हो। प्रशिक्षको को प्रतिवर्ष कम से कम तीन

महीने तक शाला की एक कक्षा को पढ़ाना चाहिये और इस पढ़ाने के समय पाठ्यक्रम में दी पाठनविधियो पर प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रयोग से नई पाठनविधियो का विकास होगा। अमरीकी अनुभव से यह सिद्ध हो गया है।

अत माध्यमिक प्रशिक्षण का अभिनवीकरण नितात आवश्यक है और सम्भवत प्रारम्भ भी हो चुका है। इस अभिनवीकरण की मुख्य दिशायें होगी—पाठ्यक्रम का इस प्रकार परिवर्तन कि भावी अध्यापक के जीवन-दर्शन को भी समाजवादी जनतन्त्री व्यवस्था के अनुरूप ढाला जा सके तथा अधिकतम सैद्धान्तिक पाठ्यक्रम का छात्राध्यापक के शाला-अनुभव से सम्बन्ध हो जाये। प्रशिक्षको एव प्रशिक्षण महाविद्यालयों को अनुसधान पर विशेष बल देना चाहिये तथा अपने विषय की अधुनातम प्रवृत्तियो से सम्पर्क होना चाहिये।

••

अच्छा बनने की इच्छा हमारी रचना का अनि
अङ्ग है। इस इच्छा को कितना ही दबाया जाय, वि
ही ढका जाय या रूपान्तरित किया जाय परन्तु इसे
नही किया जा सकता। यह सर्वदा विद्यमान रहती है
जो इसे देख लेता है उसे बहुत माधुर्यपूर्ण प्रतिभान प्र
होता है।

—डॉ. राधाकृ

सेवाधीन शिक्षक प्रशिक्षण की नित नूतन अपेक्षाएँ और शैक्षिक - अभिवीक्षक - वर्ग

श्रीमती श्री. जोशी

'सेवाधीन प्रशिक्षण' अब शिक्षण-क्षेत्र में युगधर्म बनता जा रहा है। सेवापूर्व प्रशिक्षण के बारे अब सबने मान लिया है कि यह तो शिक्षा-सेवाओं में प्रवेश के लिए एक शुरुआत की आवश्यकता मात्र है परन्तु शिक्षक वर्ग और अभिवीक्षक वर्ग की कार्यक्षमता और अभिवीक्षण क्षमता बनाए रखने के लिए सेवाधीन प्रशिक्षण के बिना कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह दूसरी बात है कि कार्यकर्ता-वर्ग सेवाधीन प्रशिक्षण की आवश्यकता किस सीमा तक स्वीकार करते हैं। कार्यकर्ता-वर्ग की यह सामान्य मनोवृत्ति देखने में आती है कि अगर उनका अभिवीक्षक-वर्ग किन्हीं नवीन अपेक्षाओं की दृष्टि से उदासीन है तो फिर वे सेवाधीन प्रशिक्षण में सीखी हुई नवीन विचारधाराओं की प्रत्यक्ष क्रियान्विति की दृष्टि से विमुख हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जब-जब शिक्षकों को सेवाधीन प्रशिक्षण के लिए किन्हीं अभिकरणों में आमंत्रित किया जाता है तब वही अभिकरण अभिवीक्षकों को भी उन प्रशिक्षण कार्यक्रमों में इस उद्देश्य से आमंत्रित करते हैं कि उन्हें शिक्षकों की अपेक्षित कार्यप्रणाली और शैक्षणिक व्यवहार-

परिवर्तनो के बावत जानकारी दे सकें परन्तु अभिवीक्षक वर्ग इस दृष्टि से अधिकांशतः उदासीन-सा ही नजर आता रहा है। इस प्रकार, एक ओर सेवाधीन प्रशिक्षण की नितनूतन अपेक्षाएं हमारे सामने हैं और दूसरी ओर लालरज शैक्षिक अभिवीक्षक वर्ग है— यही बडा विरोधाभास है जो सेवाधीन शिक्षक-प्रशिक्षण का सचालन करने वाली संस्थाओं के लिए समस्या का एक अहम कारण बना हुआ है।

कार्यकर्ता और उससे अपेक्षाएं :—

जिस किसी भी स्तर पर कोई कार्य कर रहा है—वह शिक्षक हो या अन्य—उसे सामान्यत तीन स्तरो की अपेक्षाओ की पूर्ति करनी पडती है। उन तीन स्तरो को हम निम्न प्रकार समझ सकते हैं :—

१) शिक्षक के कार्य से उसके अभिवीक्षक वर्ग को प्राप्त सतोष

२) शिक्षक के कार्य से उस कार्य के उपभोक्ता-वर्ग को प्राप्त सतोष।

३) अपनी योग्यता एव क्षमता की दृष्टि से स्वय को प्राप्त होने वाला सतोष।

शिक्षक के कार्य से उसके अभिवीक्षक-वर्ग को प्राप्त संतोष :

अभिवीक्षक-वर्ग अगर सेवाधीन प्रशिक्षण-कार्यक्रमो और उनके द्वारा शिक्षक की कार्यप्रणाली और व्यवहार मे होने वाले परिवर्तन के प्रति उदासीन है और वह अभिवीक्षण के समय इन पक्षो पर अपना मार्गदर्शन नहीं दे पाता है तो फिर शिक्षक यह मान लेता है कि ये वे पक्ष हैं जिन पर उसे ध्यान देने की आवश्यकता नही है। परन्तु अभिवीक्षक-वर्ग इन्ही आयामो की दृष्टि से शिक्षक के कार्य का लगातार अनुवर्तन करता रहे तो फिर शिक्षक के लिए यह अनिवार्य बन जाता है कि वह सेवाधीन प्रशिक्षण मे सीखी गई नवीन विचार धाराओं को कार्यान्वित करें। अत अभिवीक्षक-वर्ग का शिक्षक [illegible] पर निर्भर करता है कि नवीन [illegible] मे उनके मार्गदर्शन द्वारा नेतृत्व [illegible] र उससे लगातार सम्पर्क बनाये रखने के लिए अभिप्रेरित रहना ही है, जो वर्तमान दशा मे कठिन सा नजर आरहा है। इसी कारण शिक्षको के सेवाधीन प्रशिक्षण से मिलने वाले फल भी दुर्लभ बनते जा रहे हैं।

शिक्षक के कार्य से उसके उपभोक्ता वर्ग को प्राप्त सन्तोष :—

शिक्षक के लिए अपने अभिवीक्षक वर्ग को सतुष्ट बनाये रखने के अतिरिक्त यह जरूरी है कि उसके कार्य से उसका उपभोक्ता-वर्ग भी सतुष्ट रहे। शिक्षक के कार्य का उपभोक्ता-वर्ग उसके विद्यालय या संस्था के छात्र, छात्रों की शिक्षा से सीधे प्रभावित होने वाले पालक और [illegible]

उतनी महत्वपूर्ण रह गयी है जितना कि उस पद के अनुसार कार्य करने की योग्यता और क्षमता महत्वपूर्ण है। इसी कारण शिक्षक-समूह का प्रभाव बालकों पालकों और समाज पर क्रमशः कम होता जा रहा है। शिक्षा जगत् की समस्याओं के मूल में एक समस्या शिक्षक का अपने उपभोक्ता-वर्ग पर अपने कार्य से होने वाले प्रभाव का निरन्तर ह्रास होना है, अतः उस प्रभाव को बढ़ाने की जरूरत है। शिक्षक और शिक्षा जगत पर आयी नवीन चुनौतियों की दृष्टि से शिक्षक को सबल बनाने की जरूरत सर्वत्र महसूस हो रही है। शिक्षक को सबल बनाये जा सकने की प्रक्रिया (सेवाधीन प्रशिक्षण) और उसमें मिलने वाली सफलताओं पर ही शिक्षा की सफलता बहुत कुछ निर्भर करती है।

अपनी योग्यता और क्षमता की दृष्टि से शिक्षक स्वयं को प्राप्त होने वाला सन्तोष —

अभिवीक्षक-वर्ग और उपभोक्ता-वर्ग की संतुष्टि के अतिरिक्त एक तीसरी अपेक्षा जो शिक्षक के अपने निज के हेतु है वह यह कि उसका अभिवीक्षक-वर्ग या उसका उपभोक्ता वर्ग उसके कार्य से संतुष्ट हो, न हो, परन्तु वह स्वयं तो अपने कार्य से संतुष्ट है या नहीं ? इस दृष्टि से स्थिति एक सीमा तक विचित्र लगती है। कार्य-कर्ता अपने दैनिक जीवन में इस तरह से सोचने के आदी नहीं है कि—आज के दिन मैंने जितने २ कार्य किये हैं उनमें से कितने २ कार्यों का स्तर उत्कृष्ट रहा किन २ में मेरा कार्यस्तर

दिया या मैंने आज कोई काम

... या उपभोक्ता कोई दूसरी

... की उन्नति हेतु उत्प्रेरणा दन

का शायद सबसे अच्छा माध्यम है परन्तु इसी माध्यम का कार्यकर्ता वर्ग में सामान्यतः अभाव नजर आता है। अगर इस पक्ष को हम शिक्षक में विकसित कर सकें तो सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण के लिए हमारा रास्ता साफ हो जाता है। इसके पश्चात सिर्फ इतना ही करना बाकी रहता है कि उसका अभिवीक्षक-वर्ग इस प्रकार के कार्य और उसके कार्य को वांछित आदर और प्रोत्साहन देता रहे एवं ऐसा न करने वालों के लिये भी किसी न किसी प्रकार की ताड़ना की व्यवस्था करें। सेवारत प्रशिक्षण से जो नित नूतन अपेक्षाएँ की जा रही हैं उस दृष्टि से शिक्षकों में उपरोक्त अन्तः दर्शन की मनोवृत्ति का विकास जरूरी है।

सेवारत प्रशिक्षण और उससे नित नूतन अपेक्षाएँ .

प्रशिक्षण की दृष्टि से सर्वत्र यह स्वीकारा जा रहा है कि शिक्षकों की कार्यस्थितियाँ जितनी तेजी से पिछले वर्षों में बदली हैं, शिक्षा के क्षेत्र में जितने नवीन विचारों का उद्गम और प्रसार हुआ है, अनुसंधानों में जिन २ नवीन विधाओं और कार्यप्रविधाओं को जन्म दिया है, सामान्य नागरिक के लिए शिक्षा की आवश्यकता को अब समाज जिस प्रकार स्वीकार करने लगा है; बालकों में अनुशासन की जो लगातार कमी आई है; पालकों द्वारा अपने बालकों की शिक्षा के प्रति सजगता को निभापाने में जो कतिपय विशिष्ट मजबूरियाँ पैदा हुई हैं, शिक्षा के प्रसार ने विद्यालयों पर प्रशासनिक नियन्त्रण

मे जो ढिलाई पैदा की है; सामान्य जन-जीवन में जो निज स्वार्थ निष्ठा का प्रादुर्भाव हुआ है, शिक्षक मे जो व्यावसायिक जागरूकता की लगातार कमी आई है, शिक्षा के क्षेत्र मे गुणात्मक उन्नति की दृष्टि से शिक्षको पर जो नवीन दायित्व आये है, और अभिवीक्षक वर्ग एव प्रशानिक अधिकारी अपनी एकतन्त्रात्मक प्रशासनिक मनोवृति का लोक तन्त्रात्मक प्रशासन से तालमेल बिठा पाने मे जिस प्रकार अपने को असफल पाये है, उतनी ही सेवारत प्रशिक्षण की दृष्टि मे विविधता और व्यापकता बढी है, उतनी अभिवीक्षक वर्ग पर दायित्व की वृद्धि हुई है और उतनी ही अधिक चुनौतियां उसके सामने प्रस्तुत हुई हैं।

चुनौतियां और अभिवीक्षक वर्ग :

उपर्युक्त बदलती हुई परिस्थितियो और उनके द्वारा प्रस्तुत चुनौतियो का सामना करने का दायित्व अधिकाशतः अभिवीक्षक-वर्ग और प्रशानिक अधिकारियो का रहता है। इस दायित्व की पूर्ति मे सहयोग की दृष्टि मे अकादमिक सस्थान एव शिक्षक-प्रशिक्षण-महाविद्यालय सेवाधीन प्रशिक्षण कार्यक्रम की व्यवस्था करते हैं। इस व्यवस्था के पश्चात् शिक्षको से अपेक्षायें तभी पूरी हो सकती है जब इस व्यवस्था को अभिवीक्षक-वर्ग स्वय अपने लिए सहायक व्यवस्था स्वीकारें। इस व्यवस्था के पश्चात् शिक्षको द्वारा कार्य और व्यवहार मे जो परिवर्तन अपेक्षणीय है उन पर लगातार दृष्टि रखें व ऐसी निरीक्षण व्यवस्था को अपनावें कि नई बात नौ दिन की होकर न रह : शिक्षको के सेवाधीन प्रशिक्षण कार्यक्रम से वे अपना लगाव इस सीमा तक बढावे कि प्रशिक्षण के दौरान शिक्षको को सिखाये गये विभिन्न नवीन कार्य, कार्यप्रणालियों व्यवस्थाओ की दृष्टि से वे क्षेत्र मे शिक्षको का नेतृत्व कर सकें।

उपसंहार :

अगर शिक्षको के सेवाधीन प्रशिक्षण को अभिवीक्षक वर्ग उनकी खुद की हेतु किया गया अकादमिक सस्थानो का एक ऐसा कार्य मानने लगें जिसे उनके खुद के कर सकना सभव न होने के ही कारण वे सस्थान करते है तो फिर यह निश्चित है सेवाधीन प्रशिक्षण-कार्यक्रम शैक्षिक प्रशिक्षण मे सेवा-पूर्व-प्रशिक्षण से उच्च स्त महत्व प्राप्त करेगा। क्योंकि सेवापूर्व-प्रशिक्षण मोटे रूप मे शिक्षक को प्रशिक्षित व का एक ऐसा कार्यक्रम है जिसमे व्यापक दृष्टि से सम्पूर्ण शिक्षा जगत को देखन के शामिल होते है परन्तु सेवाधीन प्रशिक्षण, सेवापूर्व प्रशिक्षण के समय शिक्षको को दिख गये व्यापक शिक्षा जगत् को शिक्षक की कार्यस्थितियों तक उन पर आये वर्तमान नवीन दायित्व तक, और उसमे सेवापूर्व-प्रशिक्षण के अन्तर्गत रही हुई कतिपय खामि तक सीमित करके, कतिपय विशिष्ट दायित्वों की दृष्टि से गहन, वस्तुनिष्ठ अं व्यावहारिक प्रशिक्षण की एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके बल-बूते पर शिक्षक को उसकी नि नूतन कार्यविधि व नित नूतन मनोबल, कार्य-शक्ति, कौशल एव क्षमता प्रदान करते हु उस (प्रशिक्षण को) अधुनातम (अपटूडेट) बनाए रखा जा सकता है।

••

,८

शिक्षक-प्रशिक्षण-कार्यक्रम में अभिनव दृष्टि और प्रयोग की अपेक्षाएँ

श्री सांवलदान चारण

मानव की सभी क्रियाओं में अभिनवन होता रहता है। ज्यों-ज्यों नवीन अनुभव होते रहते हैं, समस्याएँ सामने आती रहती हैं और उनके हल के लिए प्रयत्न होते रहते हैं, त्यों त्यों नये नये क्षेत्र और नये नये तरीके प्राप्त होते रहते हैं। जो बात मानव के अन्य क्रिया कलापों के लिए सत्य है वही बात शिक्षा के लिए भी लागू होती है क्योंकि शिक्षा मानव के अन्य क्रियाकलापों से कोई भिन्न प्रक्रिया नहीं है। व्यापक अर्थ में शिक्षा प्राप्त किये बिना कोई रहता ही नहीं—चाहे स्कूल जाए चाहे नहीं जाए। जब इस प्रकार की प्रक्रिया (शिक्षा) में सतत अभिनवन होता रहता है, तो उसके उपक्रम का आयोजन करने वाले शिक्षक के प्रशिक्षण में भी अभिनवन की आवश्यकता होगी ही।

ज्ञान के क्षेत्र में दिन प्रतिदिन बहुत तेजी से विस्फोट हो रहा है। उसी के अनुरूप शिक्षक-प्रशिक्षण में भी अभिनवन हुए बिना शिक्षक अपने उत्तरदायित्व को भलीभांति निभा नहीं सकेगा। एक समय था जब सीमित ज्ञान की दो चार जानी-मानी पुस्तकों-लघुसिद्धान्त कौमुदी, अमर कोष आदि के रटा देने के उपरान्त शिक्षा में कुछ भी शेष नहीं रह जाता था। शिक्षक के लिए अर्थ बता देना मात्र और छात्र के स्मरण कर लेने मात्र

तक ही सीमित थी। परन्तु आज भी शिक्षा को [illegible]
शिक्षक महत्त्व की दृष्टि से भी और विभिन्न विषयगत शिक्षण की दृष्टि से भी। इसी परिस्थिति में अभिनवन के बिना काम चल सकता नहीं है।

जिस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में विस्तार हो रहा है उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करने और ज्ञान प्रदान करने के तौर तरीकों में भी गहरा और तीव्र परिवर्तन हो रहा है। एक समय था जब बालक के मन व मस्तिष्क को एक खाली पात्र मानकर शिक्षक उस पर ज्ञान थोपा [illegible] प्रवचन विधि द्वारा शिक्षा करता था। आज विद्यार्थी एक प्रेरणा व उद्देश्य सहित प्रतिक्रिया का भागी बनकर आता है। जहाँ पहले केवल विषय वस्तु और अध्यापक की रुचि शिक्षण-प्रक्रिया का निर्धारण करती थी वहाँ आज विद्यार्थी का विकास स्तर, उसकी रुचि, उसकी आवश्यकताएँ और उसकी क्षमता आदि तय करते हैं। इतना ही नहीं नित नई खोजें आती जा रही हैं। क्या इस प्रकार की परिवर्तनशील प्रक्रिया के लिए प्रशिक्षण के अभिनवन से कोई इन्कार कर सकता है?

पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में भी अभिनवन का एक व्याकुल दौरा चला। अभिनवन के नाम पर जिसके मन में जो आया करने बैठ गया। चाहे वह परिस्थितियों के लिए अनुकूल हो या न हो, चाहे उनके लिए पर्याप्त तैयारी हो या न हो, चाहे वह हमारी सभ्यता व संस्कृति से ठीक ढंग से मेल खाता हो या नहीं। परिणाम स्पष्ट ही था। अफरातफरी काम तो अफरातफरी ही रहता है। और यह विडम्बना ही रही कि हमारी शिक्षा के कई क्षेत्रों में निर्देश देने वाले केवल प्रशासन के प्राणी ही थे। क्या शिक्षा के अकादमिक क्षेत्र में भी प्रशासन के तौर तरीके ही लागू कर केवल कागजी आदेश के द्वारा शिक्षण प्रक्रिया में बड़े से बड़ा परिवर्तन करा लेना सम्भव है?

मेरी समझ में अभिनवन के लिए आवश्यक है वर्तमान स्थिति से असंतोष तथा किसी समस्या का प्रादुर्भाव। उन्नति के लिए वर्तमान स्थिति से असंतोष होना जरूरी है। यदि हम उससे संतुष्ट हैं तो उन्नत तरीके, उन्नत साधन ढूँढने का प्रयास लगन पूर्वक नहीं कर सकते। असंतोष जितना तीव्र होगा उतना ही प्रयास अधिक लगनपूर्ण होगा। मौजूदा क्रिया कलाप में समस्या के आ जाने पर भी हम कोई नई चीज या कोई नया तरीका ढूँढने के लिए बाध्य हो जाते हैं। हमें समस्या का जितना अधिक स्पष्ट आभास होगा उतनी ही तीव्रता होगी हमारे हल ढूँढने में। अतः शिक्षक-प्रशिक्षण क्षेत्र के अभिनवन भी इन्हीं दो बातों पर आधारित होने चाहिए। नीचे की पंक्तियों में हमारे शिक्षक-प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों की समालोचना इन्हीं आधारों पर की जा रही है।

हमारे शिक्षक-प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम विश्वविद्यालय के द्वारा मोटे रूप से दो भागों में बाँटे गए हैं—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। प्रायोगिक में छात्राध्यापक को अपने विषयों के कुछ पाठ पढ़ाने होते हैं। उन विषयों से सम्बद्ध प्राध्यापक द्वारा उन्हें निर्देशन दिया जाता है। इस प्रायोगिक कार्यक्रम की एक समस्या यह थी कि कक्षा के नियमित विषयाध्यापक अगस्त के मध्य से फरवरी के मध्य तक अपनी कक्षा को कुछ

इने-गिने दिन ही पढ़ा पाते थे, शेष सारे समय में हमारे छात्राध्यापक ही पढ़ाते रहते थे। अतः नियमित अध्यापकों का अपनी कक्षा से सम्पर्क एक दीर्घ काल तक विच्छिन्न रहता था। पारस्परिक चर्चा में यह बात सामने आई। इसका एक हल यह हो सकता था कि हमारी प्रेक्टिस टीचिंग को जल्दी जल्दी एक या दो माह में सम्पूर्ण कर दिया जाय। यह तभी सम्भव है जबकि सारे छात्राध्यापक एक साथ पढ़ाने जावें। यदि ऐसा किया जाय तो एक एक प्राध्यापक को बीस तीस या कुछ विषयों में इससे भी अधिक पाठ सकेत देखने पड़े और उतने ही पाठो का पढ़ाने समय पर्यवेक्षण करे। शायद सारे दिन यही काम चले और सैद्धान्तिक प्रश्न पत्रों की पढ़ाई रोक देनी पड़े। फिर इतने सारे काम का करने में गुणात्मक ह्रास होने की सम्भावना भी है। अतः यह किया गया कि किसी भी कक्षा को सप्ताह में तीन दिन तो छात्राध्यापक पढ़ावें और शेष तीन दिन नियमित विषयाध्यापक ही पढ़ावें। प्रेक्टिस टीचिंग प्रारम्भ करते समय ही यह बँटवारा कर लिया जाय कि छात्राध्यापक कौन-कौन सी इकाई व प्रकरण पढ़ायेंगे और विषयाध्यापक कौन-कौन से। इन इकाइयों का एक दूसरे से मुक्त रूप से अलग होना अधिक उपयुक्त रहता है। सत्रान्त में विषयाध्यापकों से व मुख्याध्यापकों से विचार विमर्श कर यह देखा जायगा कि यह इस वैसा कार्य करता है। यदि सतोषप्रद पाया गया तो आगे के लिए प्रेक्टिस टीचिंग इसी प्रकार आयोजित की जायगी।

इसी क्षेत्र में एक और अभिनवन पिछले तीन चार वर्षों से किया जा रहा है। छात्राध्यापकों द्वारा बनाए गए पाठ सकेत बहुधा अध्यापकों द्वारा आलोचना के विषय रहते हैं। 'इतने बड़े पाठ सकेत बनाना हम अध्यापकों के लिए असभव है क्योंकि हमे तो छः छः पाठ प्रतिदिन पढ़ाने होते है।' बात भी सत्य है। परन्तु यह भी सही है कि केवल यह लिख देना कि अमुक पाठ पढ़ाना है कोई तैयारी का द्योतक नहीं है। इसलिए एक सक्षिप्त पाठ योजना की रूपरेखा तैयार कर इनके सभी विषयों में नमूने छात्राध्यापकों को उपलब्ध करा दिए गए और 'सारे दिन के अध्यापनाभ्यास' के दौरान इसी प्रकार के पाठ बनवाए गए जिससे अभ्यास भी हो जाय। इस प्रकार की बात न तो पाठ्यक्रम में रही है और न विश्वविद्यालय की अपेक्षाओं में है। परन्तु एक स्थिति थी जिसमें पूर्ण सतोष नहीं था अतः उस ओर चिन्तन किया गया और एक हल निकल आया। इस अभिनवन की जरूरत अनुभव की गई और उसे लागू कर दिया गया।

इसी प्रकार के कतिपय अन्य अभिनवन जैसे दैनदिन डायरी का प्रारूप गृहकार्य सबधी विवरण, छात्र के मूल्याकन बिन्दु आदि अभिनवन समय समय पर या तो किसी समस्या के हल के रूप में या वर्तमान स्थिति से असतोष के कारण हमारे यहाँ किये जाते रहे हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि सब कुछ ठीक ही है। कोर्स को निर्धारित करते समय विश्वविद्यालय ने कतिपय क्षमताएँ जो छात्रों में अपेक्षित है का जिक्र किया है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि देखें उनमें से कितनी योग्यताएँ छात्रों में आ सकी है और किस हद तक। उनकी सख्यात्मक वृद्धि और गुणात्मक उन्नति करना दोनों ही वाछनीय है और इस ओर सतत प्रयत्न आवश्यक प्रतीत होते है। दूसरी बात एक ओर इस बात का अनुसरन बिलकुल नहीं के बराबर हो रहा है। अतः प्रशिक्षण महाविद्यालयों द्वारा किया जा रहा

कार्य पूर्णरूपेण फलदायक नहीं हो पा रहा है। अतः इसकी भी कोई योजना बनाकर उस पर समुचित कार्य करने की जरूरत है।

शिक्षक प्रशिक्षण का दूसरा क्षेत्र सैद्धान्तिक पक्ष है। इस क्षेत्र में भी नवाचार अभिनवन की आवश्यकता है। इस संबंध में प्रथम आवश्यकता यह है कि प्राध्यापकों को शिक्षा के क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण व महत्वपूर्ण सुधारों से सदा अवगत कराया जाता रहे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि इस दृष्टिकोण का सैद्धान्तिक पक्ष उनके लिए स्पष्ट हो। इस प्रकार की स्पष्टता संभव करने के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालयों के प्राध्यापकों के सेमीनार, कार्य गोष्ठियाँ आदि सदा होती रहें और प्राध्यापक उनमें सक्रिय योगदान दें। समय समय पर इस प्रकार के आयोजन प्रशिक्षण महाविद्यालयों, रा० शै० अ० प्र० परिषद, रा० मा० शि० बोर्ड और कभी कभी शिक्षा विभाग के द्वारा आयोजित होते रहे हैं। प्राध्यापकों के उनमें भाग लेने से इस ओर सही कदम उठने लगे हैं। तीन-चार वर्ष पूर्व एक और ऐसा कदम एक महाविद्यालय में उठाया गया था। प्राध्यापकों ने कोठारी कमीशन की रिपोर्ट पर परि-चर्चा करना तय किया। प्रत्येक प्राध्यापक ने बारी-बारी से एक-एक अध्याय पर पूर्ण तैयारी करके चर्चा प्रारंभ की और अन्य सभी ने उसमें सक्रिय भाग लिया। फलस्वरूप कोठारी कमीशन रिपोर्ट की सभी प्राध्यापकगणों को न केवल पूर्ण जानकारी ही हुई अपितु उस पर अधिकारपूर्वक समालोचना कर सकने की स्थिति भी बन सकी। उनके द्वारा पढ़ाई जाने वाली बी० एड० की कक्षाओं में भी वह उतरने लगी। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक अन्य अभिनवन प्रयोग भी किया गया। छात्रों के विषयानुसार बने वर्गों को सत्र भर के लिए एक या दो शिक्षा समस्या या शिक्षा के नवीन विचार पर चिन्तन, मनन व अध्ययन के हेतु बाँट दिया। बाद में किसी निश्चित शनिवार को बारी बारी से उनके द्वारा चिन्तन, मनन व अध्ययन को उन्होंने भिन्न २ विधाओं तकनीकों द्वारा सारे छात्रों के समक्ष रखा। किसी ने पत्र वाचन, किसी ने सेमिनार, किसी ने वाद विवाद, किसी ने वर्कशॉप आदि विधा अपनाई। इससे जहाँ एक ओर शिक्षा में आ रहे नवीन विचारों की अवगति मिल सकी वहाँ दूसरी ओर उन्होंने शिक्षण की आधुनिकतम विधियों के प्रत्यक्ष रूप में क्रियान्वित होते भी देख लिया।

सैद्धान्तिक पक्ष की एक और समस्या यह भी है कि छात्रों को साल भर में कोई लिखित कार्य करना नहीं पड़ता। फलस्वरूप परीक्षा में लिख पाना उनके लिए कठिन हो जाता है और साथ ही कठिन हो जाता है उनके लिए सीमित समय में उचित प्रभावपूर्ण भाषा में अपने विचारों को ठीक ढंग से बाँधकर व्यक्त कर पाना। साथ ही दूसरी समस्या है कि छात्र सैद्धान्तिक प्रश्न पत्रों को साल भर शनैः शनैः तैयार नहीं करते रहते वरन् साल के अन्तिम दो एक महीनों में रातें काली कर, रट-रटा कर परीक्षा में उगल देते हैं। इसके निवारणार्थ प्रति शनिवार को अगस्त सितम्बर से ही एक साप्ताहिक परख (विषय वार बारी-बारी से) प्रारंभ की गई। इससे कई फायदे हुए। छात्र साथ-साथ थ्योरी भी तैयार करते चले, उन्हें लिखने का अभ्यास होता रहा। सीमित कोर्स में से ही जाँच होने से अच्छी तैयारी की संभावना अधिक हो जाती है आदि आदि।

टीमटीचिंग व व्याख्यान के अलावा अन्य विधाओं के प्रयोग की सम्भावना पुस्तकालय के अधिकतम उपयोग आदि के बारे में भी कुछ अभिनवन किये गए। परीक्षा के क्षेत्र में किये जा रहे एक और अभिनवन की संक्षिप्त जानकारी देना मैं उपयुक्त समझता हूँ।

बोर्ड द्वारा ली जाने वाली उच्च माध्यमिक स्तर की परीक्षाओं में नवीन प्रकार के प्रश्न-पत्र आने लग गए हैं। छात्राध्यापकों को अपने-अपने विषय के प्रश्न पत्र निर्माण में तो प्रशिक्षित किया ही जाता है पर साथ ही उनकी दो परीक्षाओं में से एक में नवीन प्रकार के प्रश्न-पत्र भी उन्हें दिये जाते हैं। उन्हें इस प्रकार के प्रश्न पत्रों की जानकारी के साथ-साथ परीक्षार्थी की हैसियत से समस्याओं का व्यावहारिक अनुभव भी हो जाता है। एक वर्ष वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के तीन प्रश्न-पत्र-सेट बनाए गए जिनमें प्रश्नों का क्रम भिन्न-भिन्न था ताकि छात्र यह जान सके कि किस प्रकार किस सीमा तक नकल करने व अन्य अनुचित साधनों के उपयोग को रोका जा सकता है। ऐसी में पढ़ी गई बात को क्रियान्विति देख लेने से बात भली प्रकार समझ में आती है और उसके प्रति दृष्टिकोण सुस्पष्ट होता है।

कोठारी कमीशन की एक सिफारिश है कि कार्यानुभव शिक्षा का एक अनिवार्य अंग बनना चाहिए। यदि ऐसा होना है तो शिक्षक-प्रशिक्षण-महाविद्यालयों को अध्यापक तैयार करने की दृष्टि से इस ओर कार्य प्रारम्भ करना ही चाहिए। हमारे महाविद्यालयों में कुछ ऐसे कार्य चुनकर प्रशिक्षणार्थियों को उनका प्रशिक्षण तीन चार वर्ष से दिया जाता रहा है। कार्य ऐसे चुने जाते हैं जो बहुत मामूली तकनीकी ज्ञान की जरूरत रखते हैं तथा सभी के दैनिक प्रयोग के हैं। जैसे स्याही बनाना चाक बनाना बूट पॉलिश व साबुन बनाना आदि आदि। साथ ही इन चुने हुए कार्यों में अधिक धन की भी आवश्यकता नहीं होती। कार्यानुभव के लिए इस प्रकार की तैयारी एक आवश्यक अभिनवन है।

राजस्थान शिक्षा विभाग के द्वारा यह अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक विद्यालय में कुछ महापुरुषों के जन्म दिन, कुछ राष्ट्रीय दिवस आदि मनाये जावें। यदि इनको प्रभावी ढंग से मनाया जाना है तो उसके लिए उचित तैयारी और उचित प्रशिक्षण की भी जरूरत होगी। महाविद्यालय में भी कुछ इसी प्रकार के दिवस मनाने की प्रथा है। महाविद्यालय के स्टाफ सदस्यों में यह कार्य भार बांटा हुआ है और वे अपने हिस्से के कार्य को अपनी परिषद की सहायता से या कुछ छात्राध्यापकों की सहायता से मनाते हैं। अच्छी तैयारी, महाविद्यालय के बाहर से भी आमंत्रित व्यक्तियों का सहयोग प्रदर्शनी आदि कुछेक ऐसे बिन्दु हैं जिन पर यहाँ वास्तव में कार्य हो रहा है। विविधता इस प्रकार के आयोजनों का प्राण है। छात्राध्यापकों को इससे यह सूझ मिलती है कि कोई उत्सव कैसे व कैसे मनाया जाय।

सघन अध्यापनाभ्यास के अभिनवन का उल्लेख करना भी समीचीन लगता है। प्रत्येक छात्र ...

सप्ताह या १० दिन के लिए दिया जाता है। संक्षिप्त पाठ-योजना, इकाई योजना आदि बनाना इसका एक आवश्यक अंग रहता है। प्राध्यापक द्वारा परिवीक्षण भी होता है छात्र न केवल प्रत्येक विषय के प्रत्येक पाठ के पाठ संकेत बनाते है वरन् पाठ्येतर क्रियाओं के भी पाठ संकेत बनाते हैं, व्यवस्था करते है और उन्हे प्रतिपादित कराते हैं किसी भी स्कूल मे किये जाने वाले छोटे मोटे सारे कार्य छात्र इन दिनों स्वयं करते हैं हाजिरी भरना, प्रार्थना-सभा का आयोजन, प्रार्थना-भाषण, समाचार-व्यवस्था, सूक्ति संचय बुलेटिन बोर्ड [illegible] अभ्यास दिय

ये सब होते हुए भी बहुत कुछ करना शेष रह जाता है तथा जो कुछ किया जा रहा है उसमे गुणात्मक उन्नति आवश्यक है। महाविद्यालयों मे आयोजित सेमिनार और वर्कशॉप आदि मे कितने छात्राध्यापकों का योगदान रहता है? क्या यह सच नहीं है कि चन्द छात्राध्यापक ही ऐसे व्यक्ति है जो जिधर देखो उधर ही नजर आते हैं और छात्राध्यापकों का एक बहुत बड़ा हिस्सा निष्क्रिय ही रहता है। साथ ही यह भी सच है कि छात्राध्यापक अपने समय और श्रम का सदुपयोग भी सीमित रूप मे ही करते हैं। थ्योरी और प्रेक्टिसटीचिंग के जो उद्देश्य सिलेबस मे दिये है वे भी सारे पूरी तरह से प्राप्त नहीं हो पाते है। छात्रों मे जिस प्रकार की अभिवृत्तियाँ बननी चाहिए वह भी हम कुछेक छात्रों मे ही और कुछ हद तक ही बना पाते है। पाठ गिन-गिनकर पढ़ाए जाते हैं और ४० पूरे होते ही एक चैन की साँस सी ली जाती है। प्राध्यापकों की स्वयं की व्यावसायिक (Progress) उन्नति कितनी हो रही है और शिक्षा के अभिनवन के प्रति कितनी जागरूकता [illegible]
की अपेक्षा रखते है। [illegible]
से कठिन यात्रा भी एक- [illegible]

●●

सेवाधीन शिक्षक प्रशिक्षण की अपेक्षाएँ और प्रस्तार सेवाएँ

विजयबिहारी लाल माथुर

जिन विधियों से तथा जिस परिवेश में थोड़े प्रयत्न एवं थोड़े समय में अधिकतम ज्ञान छात्रों के मानसिक कोष का स्थायी अंग बनाया जा सके तथा अध्यापन के विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति छात्रों में वांछित व्यवहारगत सम्परिवर्तन लाकर की जा सके वही सफल शिक्षण है। इस प्रकार का सफल शिक्षण प्रदान करना अपने आप में एक कला है जिसके लिये अध्यापक में विशेष प्रकार की योग्यता एवं कौशल की आवश्यकता है। यह योग्यता शिक्षक के स्वयं के अध्ययन से तथा यह कौशल शिक्षक के प्रशिक्षण से प्राप्त होता है।

शिक्षण, समाज द्वारा स्वीकृत एक व्यवसाय है। वेतन भोगी अध्यापक इस व्यवसाय का केन्द्र बिन्दु है। किसी भी श्रेष्ठ व्यवसाय में जिस प्रकार एक सेवा पूर्व विशिष्ट प्रशिक्षण आवश्यक है उसी प्रकार अध्यापन कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व अध्यापक प्रशिक्षण की स्थिति मानी जानी चाहिये। यह कल्पना से भी परे है कि कोई डाक्टर इन्जीनियर, वकील, बेंकर, सैनिक या अन्य बिना सेवा-पूर्व-प्रशिक्षण के सेवा का प्रारम्भ कर सकता हो, परन्तु भावी पीढ़ी के राष्ट्रीय निर्माण व देश के बौद्धिक पथ-प्रदर्शन के सब से महत्वपूर्ण व्यवसाय में सेवा करने वाला अध्यापक, बड़ी संख्या में बिना किसी सेवा पूर्व प्रशिक्षण के कार्य आरम्भ करता है।

पिछड़े हुए विकासशील देशों में यह स्थिति शिक्षा के साथ उजागर है। अध्यापकों की बढ़ती हुई मांग, एवं सीमित प्रशिक्षण सुविधाओं के कारण अप्रशिक्षित अध्यापकों को न केवल सेवा में प्रवेश दिया जाता है, वरन् सेवा प्रवेश के पश्चात् भी न्यूनाधिक दीर्घ काल तक उन्हें प्रशिक्षण का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता तथा वे अपने यथालब्ध अनुभव के आधार पर ही शिक्षण-कार्य करते रहते हैं। जब तक सेवारत शिक्षकों को प्रशिक्षण की सुविधा न मिल सके तब तक उन्हें प्रशिक्षण के आधारभूत सिद्धान्तों का व्यावहारिक ज्ञान देने हेतु सेवाधीन शिक्षक प्रशिक्षण व्यवस्था की आवश्यकता है। प्रशिक्षण विद्यालय एवं महाविद्यालयों में इस व्यवस्था हेतु प्रसार-सेवा विभागों की स्थापना की गई। यह उनका प्रथम उद्देश्य है।

आज का युग ज्ञान-विस्फोट का युग है। प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान इतनी द्रुत गति से प्रगति कर रहा है कि ५-१० वर्ष पूर्व ज्ञान या प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति अपने आप को बहुत पिछड़ा हुआ अनुभव करता है। वह प्रत्यक्ष देखता है कि ज्ञान-विज्ञान और कौशल का विशाल नद, वर्षा कालीन उमड़ती धारा के तुल्य, आस पास की नवीन धाराओं के जल को आत्मसात करते हुये, विशाल से विशालतर होते हुये, तीव्र गति से आगे प्रवाहित हो रहा है तथा वह तटस्थ गतिहीन दर्शक की भाँति एक बिन्दु पर खड़ा, पिछड़ता जा रहा है। इस गतिमान ज्ञान-प्रवाह के साथ सीधा अनवरत सम्पर्क तभी सम्भव है जब कि व्यक्ति गतिहीनता को त्याग, प्रवाह के साथ गतिमान हो।

अन्य विषयों की भाँति आज शिक्षा भी इसी प्रकार गतिमान है। विभिन्न देशों में प्रयोग एवं अनुसन्धान के द्वारा शिक्षक प्रशिक्षण के विस्तृत क्षेत्र में इतने कार्य हो रहे हैं कि उनके परिणाम-स्वरूप प्राचीन मान्यताओं में संशोधन हो रहा है, नवीन मान्यतायें उनका स्थान ले रही हैं, प्राचीन विधियों में विकास हो रहा है, नवीन शिक्षा उद्देश्य, नवीन पाठ्यक्रम, नवीन शिक्षण विधियाँ, नवीन शिक्षाप्रबन्ध एवं प्रशासन के सिद्धान्त उभर रहे हैं। प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापक को इस नवीन ज्ञान से परिचित कराना प्रसार सेवा विभाग का दूसरा उद्देश्य है।

शिक्षा का संख्यात्मक एवं क्षेत्रीय विस्तार विकासशील देश की परम आवश्यकता है। प्रजातन्त्र को शासन विधि एवं जीवन विधि स्वीकार करने वाले राष्ट्र में यह और भी आवश्यक है, क्योंकि अशिक्षित जन समूह में प्रजातन्त्र एक प्रवञ्चना मात्र है। प्रजातन्त्र के अधिनायक वाद में परिवर्तित हो जाने की बड़ी आशंका है। शिक्षा विस्तार की इस आवश्यकता को स्वीकार करने के साथ-साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शिक्षा का गुणात्मक सुधार भी उतना ही आवश्यक है। शिक्षा के इस गुणात्मक सुधार को वास्तविक बनाने वाले साधनों एवं व्यक्तियों का मूल केन्द्र बिन्दु अध्यापक है। अध्यापक तथा केवल अध्यापक ही यदि चाहे तो शिक्षा का गुणात्मक विकास हो सकना सम्भव है। अध्यापक का ज्ञान-प्रशिक्षण, उसकी कर्त्तव्य-निष्ठा, उत्तरदायित्व की भावना, लगन तथा उसका व्यावसायिक सन्तोष ही प्रेरक बन कर वह वातावरण बना सकते हैं जिसमें शिक्षक लगन व उत्साह से कार्य कर, सुधार लावें। वह उन प्रयोगों की जानकारी रखे जिनमें सुधार

[illegible] चार्ट आदि दैनिक उपकरण एवं [illegible] सामग्री [illegible] उपलब्ध [illegible]। प्रयोगशाला [illegible] भारत में आधुनिक शिक्षा [illegible] केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय [illegible] अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद [illegible] आदि [illegible] इनका प्रकाशन राज्य शिक्षा विभाग द्वारा होता है, [illegible] सरकार का शिक्षा मंत्रालय वहन करता।

इस प्रकार विस्तार सेवा विभाग अपनी अपनी [illegible] एवं स्थानीय परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के आधार पर भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यक्रम आयोजित करते हैं। इन सभी में कुछ मुख्य-मुख्य सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

१. अन्तःसेवाकालीन प्रशिक्षण गोष्ठियाँ, कार्यशालाएँ, प्रसार-व्याख्यान एवं विषय विशेष अध्ययन दल ([illegible]) प्रयोगात्मक गोष्ठी ([illegible]) तथा इस प्रकार की अन्य प्रवृत्तियों के आयोजन द्वारा अप्रशिक्षित अध्यापकों तक प्रशिक्षण के आधारभूत ज्ञान को पहुँचाना एवं प्रशिक्षित अध्यापकों को नवीन विकसित ज्ञान के सम्पर्क में रखना।

२. प्रशिक्षण महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के प्राध्यापकों अनुदेशकों द्वारा प्रदर्शन पाठ, शिक्षकों के कक्षागत शिक्षण का अवलोकन एवं विचार विमर्श तथा विस्तार शिक्षकों को नवीन एवं परिष्कृत प्रणालियों से पढ़ाने का अवसर देकर प्रशिक्षण महाविद्यालय/विद्यालय में पढ़ाई गई शिक्षण विधियों से अध्यापकों को परिचित एवं अभ्यस्त कराना।

३. विद्यालयों में प्रयोगिक प्रायोजना की सफल क्रियान्विति हेतु विद्यालयी योजना के निर्माण एवं परिपालन हेतु कार्यशालायें आयोजित कर सैद्धान्तिक ज्ञान प्रदान करना एवं इनकी सफल क्रियान्विति द्वारा विद्यालयों के विकास एवं गुणात्मक सुधार की दिशा में प्रयत्न करना।

४. पुस्तकालयों की पुस्तकों के अधिकाधिक व्यापक वितरण द्वारा, विद्यालयों में लघु पुस्तकालयों की स्थापना द्वारा, पाठक दलों के माध्यम से, तथा प्रसार सेवा विभागों के उपयोगी साहित्य प्रकाशन से नवीनतम ज्ञान अध्यापकों तक पहुँचा कर उन्हें लाभान्वित करना।

५. अखिल भारतीय निबन्ध लेखन प्रतियोगिता (सेमीनार रीडिंग प्रतियोगिता के अन्तर्गत) आयोजित होती है उस हेतु शिक्षकों से अपने अनुभवों के आधार पर लेख लिखाकर उनकी लेख प्रतिभा को विकसित करना तथा शिक्षकों के अनुभवों को अधिकतम अध्यापकों तक पहुँचाना।

६. गोष्ठियों, कार्यशालाओं, प्रायोगिक प्रायोजनाओं, विद्यालयी-योजनाओं, विद्यालयों की विशिष्ट प्रवृत्तियों आदि से सम्बन्धित प्रतिवेदन प्रकाशित कर इनकी विधियों एवं परिणामों से अधिकतम विद्यालयों एवं अध्यापकों को लाभान्वित करना।

७. शैक्षिक चलचित्र प्रदर्शन एवं अन्य शैक्षिक उपकरणों के व्यावहारिक प्रदर्शन द्वारा अध्यापकों को इनके उपयोग एवं स्वयं निर्मित उपकरणों को तैयार करने की जानकारी देना।

८. शैक्षिक प्रदर्शनियों, विज्ञान मेले, विज्ञान क्लब, वाणिज्य क्लब, अध्यापक अध्ययन दलों की स्थापना द्वारा शिक्षकों की सृजनात्मक शैक्षिक एवं विषय सम्बन्धी गतिविधियों को जागृत एवं विकसित करना।

९. राज्य शिक्षा विभाग द्वारा अपनाई गई शैक्षिक योजनाओं एवं कार्यक्रमों में सहयोग देकर उन्हें सफल बनाना।

प्रसार सेवा विभाग उपर्युक्त प्रवृत्तियों का आयोजन करते रहे हैं। इस विभाग के कार्य का प्रभाव सम्बन्धित विद्यालयों में लक्षित होता भी है। यह अवश्य है कि इन विभागों के कार्य की अपनी सीमायें भी रही है तथा कठिनाइयाँ भी। विस्तृत क्षेत्र सीमित साधन, बहुमुखी प्रवृत्तियाँ, महत्त्वाकांक्षी अपेक्षायें, बार-बार प्रशासनिक परिवर्तन, अर्थाभाव समय पर एवं नियमित रूप से राशि उपलब्ध न होना, समन्वयकों की व्यक्तिगत रुचि उनकी योजना एवं क्रियान्विति की प्रतिबन्धित सीमायें आदि वे प्रमुख कारण हैं जिनके निराकरण के अनुपात में प्रसार सेवा विभागों के कार्य कलाप प्रभावी हो सकते हैं।

••

सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदाः।

कोई काम सहसा नहीं करना चाहिए। अविवेक ही तो बड़ी-बड़ी विपत्तियों का कारण है। सोच विचार कर कार्य करने वाले के पास सम्पदाएँ स्वयं चली आती हैं।

—सुभाषित

व्यवसाय के लिये। माध्यमिक शिक्षा-आयोग (मुदालियर कमीशन) की यह धारणा थी कि शिक्षा के जिस पुनर्संगठित रूप को वह हमारे देश में देखना चाहता था, उसके लिये योग्य एवं प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता थी और आयोग प्रशिक्षण की तत्कालीन व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं था। कोठारी आयोग ने भी वर्तमान शिक्षा व्यवसाय के दोषों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए प्रशिक्षण-संस्थाओं के कार्य को निम्न कोटि का बताया है और अध्यापक-शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए शिक्षा की गुणात्मक उन्नति हेतु शिक्षकों की व्यावसायिक दक्षता के लिये कुछ ठोस कार्यक्रम अनिवार्य रूप से अपनाने और करने की सिफारिश की है।

शिक्षक-प्रशिक्षण के अन्तर्गत सबसे महत्त्वपूर्ण अंग अध्यापनाभ्यास है। अध्यापनाभ्यास का तात्पर्य शिक्षण सबंधी अभ्यास से है। व्यावसायिक अध्यापक-शिक्षा के कार्यक्रम में अध्यापनाभ्यास वह अवस्था है जबकि छात्राध्यापक प्रशिक्षण काल में स्कूल में जाकर विद्यार्थियों को कक्षा में पढ़ाता है जहाँ पर वह परिवीक्षक के निर्देशन में शिक्षण सिद्धान्तों का क्रियान्वयन करता हुआ शिक्षक के लिये आवश्यक हर प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है। इस अध्यापनाभ्यास के प्रभावी होने पर ही किसी व्यक्ति का योग्य एवं सफल अध्यापक बनना निर्भर करता है। प्रभावी अध्यापनाभ्यास की अवहेलना या उसके प्रति उदासीनता के फलस्वरूप ही अधिकांश शिक्षक-प्रशिक्षण-महाविद्यालय अच्छे शिक्षक तैयार नहीं कर पा रहे हैं। यद्यपि विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में अध्यापनाभ्यास सम्बन्धी अनेक महत्वाकांक्षी उद्देश्य लिखे हुए हैं, तथापि विश्वविद्यालय और प्रशिक्षण महाविद्यालयों के अधिकारीगण प्रायः इस बात से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं कि जैसे-तैसे निर्धारित समय में छात्राध्यापकों ने पाठों की निर्धारित संख्या पूरी करने की कागजी कार्यवाही पूरी करा ली है। अध्यापनाभ्यास सम्बन्धी विद्यालयों के अध्यापकों की ज्यादातर यही अपेक्षा रहती है कि छात्राध्यापक उनकी कक्षाओं को किसी तरह से कक्षा सम्बन्धी सभी कार्य करते हुए पढ़ाते रहें और वे कक्षाओं के बाहर आराम करते रहें। वहाँ के प्रधानाध्यापक यह चाहते हैं कि उनके विद्यालयों में अध्यापनाभ्यास न किया जाय तो अच्छा रहे या वे कम से कम समय में छात्राध्यापकों के अध्यापनाभ्यास से पीछा छुड़ाना चाहते हैं।

यदि हम शिक्षा-जगत में सुधार चाहते हैं तो अध्यापनाभ्यास को प्रभावी बनाने के लिए यथोलिखित अपेक्षाओं के क्रियान्वयन की दिशा में कदम उठाना आवश्यक होगा।

१. शिक्षक अपने कार्य में रुचि लेकर छात्रों को अध्यापन हेतु अच्छे ढंग से उत्प्रेरित कर सके।

२. वह अपने पाठ सम्बन्धी उद्देश्यों और तद्विषयक विशिष्ट परिवर्तनों का निर्धारण स्वयं करने में समर्थ हो।

३. वह अपने विषय-सम्बन्धी अध्यापन-बिन्दुओं के अद्यतन ज्ञान का संयोजन करते हुए चयन कर सके।

४. विद्यार्थियों को पढ़ाते समय वह उपयुक्त अध्यापन-विधियों का उपयोग करने में सक्षम हो।

५. वह बालकों [illegible] की [illegible] के अनुसार [illegible] तथा [illegible] के आवश्यकतानुसार सही ढंग से प्रयोग कर सके।

६. कक्षाध्यापन के अवसर पर वह [illegible] के लिए [illegible] निर्देशित करेगा [illegible] उपयुक्त कार्य [illegible] को विकसित कर सके।

७. वह पाठ को विकसित करते समय [illegible]

८. पाठ के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए वह उचित [illegible] कर सके।

९. वह अपने विषय में [illegible] स्तर के अनुसार [illegible] योजना, इकाई योजना, बड़ी एवं संक्षिप्त पाठ योजना समय पर बनाने में समर्थ हो।

१०. वह विद्यार्थियों की हर प्रकार की योग्यताओं, क्षमताओं और रुचियों को जानने में सक्षम हो।

११. वह विद्यार्थियों के विकास के लिए विभिन्न प्रकार की पाठ्य सहगामी क्रियाओं का आयोजन व्यवस्थित ढंग से कर सकता हो।

१२. व्याख्याताओं की मदद से सीखे हुए मनोविज्ञान और शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धांतों की क्रियान्विति कक्षाध्यापन तथा विभिन्न विद्यालयीय प्रवृत्तियों में उनके द्वारा आवश्यकतानुसार की जा सके।

१३. विद्यार्थियों के स्तर को समझते हुए उनकी क्षमता के अनुकूल गृह कार्य देकर सभी प्रकार के लिखित कार्य का संशोधन सही ढंग से समय से निश्चित रूप से करने में समर्थ हो।

१४. वह छात्रों में सोचने की शक्ति को तथा स्वतन्त्रतापूर्वक स्वतः कार्य करने की रुचि को विकसित कर सके।

१५. कक्षा में उपयुक्त व्यवस्था करके छात्रों को सच्चे अनुशासन में रखने की क्षमता उसमें आ जावे।

१६. शिक्षक प्रभावोत्पादक ढंग से शुद्ध व सरल भाषा में अपने विचारों को व्यक्त कर सके।

१७. वह विद्यार्थियों की व्यक्तिगत कठिनाइयों को समझ कर सहानुभूतिपूर्वक हल करने में पथ-प्रदर्शक बन सके।

१८. वह स्वयं के व्यावसायिक स्तर को उन्नत करने में अनवरत रूप से प्रयत्नशील हो तथा अपने कर्तव्य का निष्ठा से पालन करता हो।

उपर्युक्त अपेक्षाओं को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि हमारा उपक्रम भी हर प्रकार से अच्छा एवं प्रभावी हो। इसके सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों में स्टाफ गुणात्मक तथा सख्यात्मक दृष्टिकोण से उपयुक्त हो। इस सम्बन्ध में वर्तमान समय में हालत असन्तोषजनक है। प्राइवेट महाविद्यालयों

में प्रायः आवश्यकता से कम प्राध्यापक रखे जाते हैं तथा अच्छे स्तर के व्यक्ति भी कई कारणों से ज्यादा समय तक टिक नहीं पाते हैं। राजकीय महाविद्यालयों में स्टाफ आवश्यकतानुसार पूरा रहता है परन्तु कई बार स्थानान्तरण के फलस्वरूप अपेक्षाकृत अच्छी योग्यता, अधिक रुचि एवं निष्ठा वाले व्यक्ति नहीं रह पाते हैं।

अभ्यासनाभ्यास के लिये समयावधि कम से कम सैद्धान्तिक कक्षाओं हेतु दिये जाने वाली समयावधि के करीब-करीब बराबर होनी चाहिये और वह समय सैद्धान्तिक कक्षाओं को बन्द किये बिना अगस्त माह से जनवरी तक फैला कर सुविधानुसार रखा जा सकता है। प्रचलित प्रथा के अनुसार इसके लिये समय बहुत कम दिया जाता है और कई स्थानों पर तो करीब एक मास में ही किसी प्रकार से कम छात्र संख्या वाली कक्षाओं को भी विभाजित करके पाठ पूरे करने की रस्म अदा कर दी जाती है।

छात्राध्यापकों के प्रवेश के समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनको अध्यापनाभ्यास के लिये विषयों का चयन स्कूलों में उपलब्ध सुविधाओं के आधार पर ही करने दिया जाय।

सत्र के प्रारम्भ में ही पहले सैद्धान्तिक कक्षाओं में विद्यालय संगठन, मनोविज्ञान, शिक्षा सिद्धान्त तथा अध्यापन विषयों सम्बन्धी उन प्रकरणों को विशेष तौर से ले लिया जाय जिनकी आवश्यकता अध्यापनाभ्यास प्रारम्भ करते ही पड़ती है।

अध्यापनाभ्यास प्रारम्भ करने के ठीक पहले ही प्रत्येक व्याख्याता अपने विषय के विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए आवश्यकतानुसार कई प्रदर्शन पाठ विद्यालय में जाकर देवें। जिनका सभी सम्बन्धित छात्राध्यापक ध्यान से अवलोकन करें। प्रदर्शन पाठों के अन्त में प्रतिदिन छात्राध्यापक सम्बन्धित प्राध्यापक की अध्यक्षता में उन पाठों पर विवेचना करें।

प्रशिक्षण महाविद्यालयों के पास ही यदि उनके निजी माध्यमिक विद्यालय हो जिस पर उनका हर प्रकार से पूरा नियन्त्रण हो, तो अध्यापनाभ्यास तथा विभिन्न प्रकार के प्रयोग सुविधा से किये जा सकते हैं।

सभी छात्राध्यापक अध्यापनाभ्यास आरम्भ करने के पूर्व विद्यालय के सम्बन्धित विषय एवं कक्षा के शिक्षकों से सम्पर्क स्थापित कर अध्यापन के लिये पूरा पाठ्यक्रम जो उनको पढ़ाना है, लिख लें। इसी के आधार पर वे इकाई योजनाएँ तथा पाठ योजनाएँ व्याख्याताओं के निर्देशन में बनावें।

अध्यापनाभ्यास के अन्तर्गत दिये गये सभी पाठों के व्याख्याताओं द्वारा परिवीक्षण की प्रथा कई महाविद्यालयों में नहीं है जो अनुचित है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक छात्राध्यापक के सभी पाठों का सम्बन्धित या अन्य व्याख्याता द्वारा अवश्य ही परिवीक्षण किया जाय चाहे वह पूरे कालांश भर न होकर कुछ ही समय के लिये हो। कक्षा के विषयाध्यापक को पूरे कालांश कक्षा में ही बैठकर आवश्यकतानुसार परिवीक्षण पुस्तिका में टिप्पणी लिखने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

छात्राध्यापक की अच्छी तरह से परीक्षा लेनी आवश्यक है और अयोग्य व्यक्तियों को प्रायोगिक परीक्षा में भी अनुत्तीर्ण घोषित करना चाहिये।

शिक्षा विभाग के अधिकारियों द्वारा तथा माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की ओर से नियुक्त निरीक्षकों द्वारा समय-समय पर विद्यालयों के निरीक्षण के अवसर पर यह ध्यान पूर्वक देखा जाय कि प्रशिक्षित अध्यापक अपनी योजनाओं के आधार पर उचित अध्यापन विधियों का प्रयोग नियमित रूप से करते हैं या नहीं। इस सम्बन्ध में उचित आवश्यक कार्यवाही समय में की जाय जिससे दूसरे व्यक्ति भी सजग रह कर उचित ढग से कार्य करते रहें। इसके लिये प्रधानाध्यापक द्वारा नियमित रूप से परिवीक्षण बहुत लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

वर्तमान समय में अध्यापनाभ्यास सम्बन्धी उपक्रम की अधिकांश संस्थाओं में दयनीय दशा होने के बावजूद यदि विश्वविद्यालय के अधिकारी, शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों तथा अध्यापनाभ्यास सम्बन्धी विद्यालयों के कार्यकर्त्ता सच्चाई, निष्ठा व ईमानदारी से उपर्युक्त ढग के कार्यक्रमानुसार अपने कर्त्तव्य पालन में सलग्न रहें तो शीघ्र ही अध्यापनाभ्यास की अपेक्षाओं को पूरा करने वाले योग्य शिक्षकों का उपलब्ध होना कठिन नहीं होगा।

••

अपने स्वप्नों को यदि कोई व्यक्ति यथार्थ में परिवर्तित करना चाहता है तो उसे जागना तो पड़ेगा ही।

भवन-निर्माण-कार्य से अधिक जटिल है। वास्तव में विचार पूर्वक योजना बनाना सफल अध्यापन का आधार है। बिना योजना बनाए अध्यापन करना ठीक वैसा ही है जैसा कि बिना उद्देश्य निर्धारित किये तथा साधन जुटाए यात्रा के लिए निकल पड़ना।

अध्यापन के लिए योजना बनाना निम्नांकित बिन्दुओं की दृष्टि से आवश्यक है —

१. अध्यापन-योजना अध्यापन-कार्य को निश्चित दिशा प्रदान करती है।

२. योजना बनाने से अध्यापक विषय-वस्तु से सम्बन्धित तथ्यों, पदों, प्रत्ययों, नियमों, सिद्धान्तों आदि के प्रति पहले से अधिक स्पष्ट हो जाता है और वह अपनी स्मृति को सजीव कर लेता है ताकि अध्यापन के समय विस्मृति न हो।

३. अध्यापन-योजना बनाने से व्यवहार के सभी पक्षों ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक—में वांछित परिवर्तन करने की दृष्टि से सन्तुलित रूप से विचार करना सम्भव होता है। सम्भव है, योजना के अभाव में, अध्यापक का ध्यान किसी एक पक्ष की ओर तनिक भी न जाय।

४. योजना-बद्ध अध्यापन करने से पाठ्यक्रम में निहित सभी इकाइयों तथा एक ही इकाई के सभी प्रकरणों पर सन्तुलित रूप से बल देना सम्भव होता है। योजना के अभाव में, हो सकता है, कुछ इकाइयों को उनकी आवश्यकतानुसार कालांश न मिल सकें।

५. योजना बनाने से उद्देश्यों एवं विषय-वस्तु के अनुकूल अध्यापन विधियों, श्रव्य-दृश्य प्रसाधनों आदि का चुनाव करना सम्भव होता है।

६. अध्यापक के कार्य करने के ढंग का भी शिक्षार्थियों के व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जो शिक्षक योजना बनाकर व्यवस्थित रूप से अध्यापन करता है वह अपने विद्यार्थियों में भी योजना-बद्ध ढंग से कार्य करने की आदत का विकास करने में सफल होता है।

७. योजना बनाने से उपलब्ध समय का अधिकाधिक सदुपयोग करना सम्भव होता है तथा साथ ही अध्यापन-प्रक्रिया के विभिन्न पदों, जैसे-अध्यापन, आवृत्ति, मूल्यांकन, पुनरध्यापन आदि के लिए समुचित समय निर्धारित किया जा सकता है।

८. योजना बद्ध कार्य करने वाले अध्यापक में अध्यापन के समय पर्याप्त मात्रा में आत्मविश्वास बना रहता है तथा ऐसे अध्यापक के प्रति शिक्षार्थियों में सकारात्मक अभिवृत्ति का विकास होता है जो कि अधिगम अर्जित करने के लिए एक आवश्यक घटक माना जाता है।

योजना किसके द्वारा ?

जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है, योजना बनाना किसी कार्य को करने से पूर्व उस पर सम्यक चिन्तन करना है अतः स्पष्ट है कि अध्यापन कार्य की योजना स्वयं उसी अध्यापक को बनानी है जिसे अध्यापन करना हो।

सम्प्रति यह विचार-धारा भी जड़ पकड़ती जा रही है कि अध्यापक को प्रतिदिन छः कालांश में भी अधिक समय तक अध्यापन करना होता है, प्रत्येक कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या भी अधिक होती है; रिक्त कालांशों में लिखित कार्य जाँचना होता है, एवं सहशैक्षिक प्रवृत्तियों का संयोजन करना होता है, आन्तरिक मूल्यांकन विषयक प्रपत्रों में वांछित प्रविष्टियाँ भी करनी होती हैं अतः उससे योजना बनाकर अध्यापन करने की अपेक्षा करना उचित नहीं प्रतीत होता। इस विचार-धारा के मानने वाले यह चाहते हैं कि जिला अथवा राज्य स्तर पर अनुभवी एवं कुशल अध्यापकों की सेवाओं का लाभ उठाकर प्रत्येक विषय में अच्छे स्तर की योजनाएँ बनाई जानी चाहिएँ तथा इस प्रकार निर्मित योजनाओं को प्रकाशित करा सभी सम्बन्धित अध्यापकों को दी जानी चाहिएँ ताकि वे तदनुसार अध्यापन आयोजित कर सकें।

उक्त विचार-धारा में शिक्षा-शास्त्र के अनुसार निम्नांकित दोष हैं:—

(i) ये योजनाएँ यह मानकर चलती हैं कि सभी विद्यालयों में पढ़ने वाले शिक्षार्थी लगभग एक जैसे होते हैं जबकि वास्तविकता यह नहीं है।

(ii) ये योजनाएँ सभी विद्यालयों में एक जैसी साधन-सुविधाएँ मानकर चलती है जबकि ऐसा नहीं है।

(iii) ये योजनाएँ यह मानकर चलती हैं कि सभी विद्यालयों में एक जैसा शैक्षणिक पर्यावरण विद्यमान होता है जबकि कहीं अनुकूल होता है और कहीं नहीं।

(iv) ये योजनाएँ यह मानकर चलती हैं कि सभी विद्यालयों में कार्य करने वाले अध्यापक लगभग समान योग्यता के हैं। ऐसा विचार करना भी वास्तविकता से अपने आपको दूर रखना है।

उक्त दोषों को ध्यान में रखते हुए जिला या राज्य स्तर पर समरूपता लाने की दृष्टि से योजनाएँ बनवाना लाभप्रद सिद्ध नहीं होगा क्योंकि जब तक स्वयं अध्यापक योजना बनाने में चिन्तन नहीं करेगा, तथा जब तक वह स्वयं अपनी योग्यतानुसार उपलब्ध साधनों तथा शिक्षार्थियों की वैयक्तिक भिन्नता को ध्यान में रखकर योजना नहीं बनाएगा तब तक अध्यापन स्तर उन्नत होना सभव नहीं है। अतः उक्त विवेचन को ध्यान में रखकर अध्यापन के लिए योजना स्वयं अध्यापक के द्वारा ही बनाई जानी चाहिए। यह अवश्य है कि अध्यापक के समक्ष अध्यापन-योजना बनाते समय कुछ अच्छे स्तर की योजनाओं के नमूने हों तो वह अपनी योजना को भी उपयुक्त स्तर की बना सकता है। जिला अथवा राज्य स्तर पर जो अध्यापन-योजनाएँ बनें, उनका यही प्रयोजन होना चाहिए ताकि अध्यापक का चिन्तन भी कुण्ठित न हो और साथ ही उसके समक्ष अच्छे स्तर की योजनाएँ नमूने के रूप में प्रस्तुत हो सकें।

योजना के प्रकार :

अध्यापन-योजनाएँ तीन प्रकार की होती हैं —

१. सत्र-योजना,

२. इकाई-योजना और

३. दैनन्दिन पाठ योजना

१. सत्र-योजना :

सत्र-योजना की अवधि एक वर्ष होती है अतः सत्र-योजना को वार्षिक-योजना भी कहते हैं। प्रत्येक विषय में सत्र-योजना बनाना इसलिए महत्वपूर्ण है ?

(अ) कि प्रत्येक शिक्षण-इकाई को उसकी आवश्यकतानुसार कालांश उपलब्ध हो सके।

(ब) कि विभिन्न शिक्षण-इकाइयों का अध्यापन-क्रम निर्धारित किया जा सके।

(स) कि प्रत्येक शिक्षण-इकाई की आवृत्ति, मूल्यांकन तथा पुनरध्यापन के लिए यथोचित समय उपलब्ध हो सके;

(द) कि विभिन्न विषयों में परस्पर सम्बन्धित विषय-वस्तु को एक साथ पढ़ाने की दिशा में समन्वय स्थापित किया जा सके;

(य) कि प्रत्येक शिक्षण-इकाई का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम के परिप्रेक्ष्य में अध्यापन किया जा सके;

(फ) कि प्रत्येक शिक्षण-इकाई से सम्बन्धित श्रव्य-दृश्य प्रसाधनों की प्राप्ति की दिशा में प्रयास किया जा सके।

वास्तव में सत्र-योजना सत्र पर्यन्त अध्यापन-कार्य का ऐसा ढांचा उपस्थित करती है कि जिसके अनुसार कार्य करने पर शिक्षण-उद्देश्य प्राप्त करना सम्भव होता है।

२. इकाई-योजना

इकाई-योजना सत्र-योजना और दैनन्दिन पाठ योजना के मध्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कड़ी है। इकाई का विचार गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की देन है जिसके अनुसार सम्पूर्ण विभिन्न अंशों का योग मात्र नहीं है परन्तु वह अंशों के योग से कुछ अधिक है। उदाहरण के लिए, वाद्य यन्त्र के भिन्न-भिन्न स्वरों को किसी क्रम विशेष में बजाने से धुन-विशेष का सृजन होता है। यही धुन स्वरों को अलग-अलग बजाने से उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार किसी इकाई में निहित विभिन्न प्रकरणों को जब अलग-अलग पढ़ाया जाता है तो उनसे वह समग्र प्रभाव उत्पन्न नहीं होता जो विभिन्न प्रकरणों को सम्पूर्ण इकाई के परिप्रेक्ष्य में परस्पर सम्बन्धित करके पढ़ाने से होता है।

शिक्षण-इकाई से तात्पर्य किसी एक केन्द्रीय विचार के इर्द-गिर्द सरचित व्यापक एवं सार्थक सीखने के अनुभवों से है जिसके व्यवस्थित रूप से आयोजित होने पर शिक्षार्थियों में अपेक्षित परिवर्तन लाना सम्भव होता है। इस दृष्टि से इकाई-योजना में निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं —

(iii) अध्याप्य बिन्दु,
(iv) उद्देश्यानुरूप शिक्षण परिस्थिति के निर्माण हेतु शिक्षक-शिक्षार्थी क्रियाएं,
(v) पाठ का सारांश,
(vi) वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से गृह कार्य, (लिखित कार्य, पाठ्य पुस्तक अध्ययन, संदर्भ-ग्रंथ-अध्ययन के रूप में)
(vii) मूल्यांकन की रूप रेखा,
(viii) अध्यापन के प्रत्येक पक्ष के लिए समय निर्धारण,

दैनन्दिन पाठ योजना के सम्बन्ध में कभी-कभी यह प्रश्न भी पूछा जाता है कि यह कितनी विस्तृत हो। वास्तव में प्रारंभिक अध्यापक को विस्तृत पाठ योजना ही बनानी चाहिए परन्तु कुछ अनुभव के पश्चात् संक्षिप्त पाठ योजना बनाना ही पर्याप्त होता है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि योजना एक साधन है, साध्य नहीं। अतः अध्यापन के दौरान कहीं भी अध्यापक यह अनुभव करे कि यहाँ योजना से परे हट कर अध्यापन करना उचित होगा तो उसे स्वतंत्रता पूर्वक ऐसा करना चाहिए। शिक्षण-शास्त्र अध्यापन को उन्नत ढंग से आयोजित करने के मार्ग में कहीं भी बाधा नहीं पहुँचाता। योजना बनाने का यही तो उद्देश्य है कि अध्यापन-कार्य को उन्नत ढंग से किया जा सके। इस दृष्टि से योजना बनाने के पश्चात् भी अध्यापक को अपनी सूझ-बूझ का पूरा परिचय देते रहना चाहिए।

योजनाबद्ध अध्यापन करना आधुनिक अध्यापक की एक प्रमुख विशेषता है। योजना बनाकर अध्यापन करते रहने से अध्यापक सदा आधुनिक बना रहता है क्योंकि योजना का अर्थ है चिन्तन करना, अपनी समस्या के समाधान के लिए विधिवत प्रयास करना तथा प्राप्त अनुभवों के आधार पर निरन्तर उन्नत योजना बनाना और यह सब इसलिए कि अध्यापन उन्नत हो सके।

••

भारत मे शिक्षानुसन्धान की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध मे कोठारी शिक्षा आयोग
यह कथन कि 'शिक्षानुसन्धान अब भी शैशवावस्था मे है । उसकी मात्रा अल्प है और
की गुणात्मकता मध्यम या अधम ।" हमारे सामने एक गम्भीर चुनौती है ।

शिक्षानुसन्धान की वर्तमान दुर्दशा के स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने वाले कतिपय
रण निम्नलिखित हैं .—

(i) भारत मे ऐसे विश्वविद्यालय बहुत कम है जहाँ एक अलग विद्या के रूप मे शिक्षा
का अध्ययन किया जाता हो । अधिकाश शिक्षानुसन्धान कार्य शिक्षक प्रशिक्षण
महाविद्यालयो मे होता है जहाँ न तो अनुसन्धान की पर्याप्त सुविधाएँ है और
न उसका निर्देशन करने के लिए सक्षम शिक्षाविद उपलब्ध हो हो पाते है ।

(ii) शिक्षा के क्षेत्र मे अपने आप स्वय अनुसन्धान करने वाली विशेषीकृत सस्थाओ
की भारी कमी है । अनुसन्धान हेतु प्रलेख कार्य परामर्श आदि सहायक सेवाओ
का विकास होना आवश्यक है । भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसधान परिषद
नई दिल्ली इस दिशा मे कुछ प्रयास प्रारम्भ कर रही है ।

(iii) देश मे कोई केन्द्रीय सूचना वितरण केन्द्र स्थापित नही हो पाया है । भारत मे
ऐसी पत्रिकाएँ नगण्य है जो शिक्षानुसन्धान से सलग्न हो । अत अनुसन्धान कार्यो
की पुनरावृत्ति बहुधा होती रही है ।

(iv) शिक्षा मे अनुसन्धान हेतु विद्यार्थियो को बहुत ही कम छात्रवृत्तिया प्राप्त है ।
शिक्षानुसन्धान पर प्रति वर्ष पाँच लाख रुपये से कम का अनुमानित व्यय
व्यय नगण्य ही कहलाएगा । भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसधान परिषद ने
शिक्षा को भी सामाजिक विज्ञान तो माना है पर शोध अनुदान के लिए राष्ट्रीय
शैक्षिक अनुसधान एव प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली को उत्तरदायी ठहराया है ।

(v) अधिकतर अनुसन्धान मानसिक परीक्षण के क्षेत्र मे हुए है । सबसे बड़ा दुर्भाग्य
यह है कि जो कुछ अनुसन्धान कार्य हुआ है वह अधिकाशत अल्मारियो मे बन्द
रह गया है प्रशासन न नीतियो के रूपायन मे उसके निष्कर्षो का उपयोग नहीं
किया है । क्षेत्र के कार्यकर्ताओ को इन निष्कर्षो की अवगति नहीं हो पाती है ।
अत कुछ अनुसन्धान हो जाने पर भी क्षेत्र की समस्याओ के निराकरण की स्थिति
यथावत् बनी हुई है ।

आज की आवश्यकताओ के परिप्रेक्ष्य मे अब तक निम्नलिखित शिक्षा क्षेत्र उपेक्षित
रहे हैं —

(i) यह का एक महत्वपूर्ण उपेक्षित क्षेत्र है शिक्षण की गुणात्मकता मे सुधार कैसे लाया
जाय । अध्यापक, पाठ्य पुस्तक, कार्य पुस्तक, प्रयोगशाला अभ्यास शिक्षण उप
व उपकरणो का विद्यार्थियो मे ज्ञान, अवबोध और निपुणताये पैदा करने मे प्रभाव
पूर्ण ढग से कैसे उपयोग किया जाय ? कतिपय शिक्षा शास्त्रियो की रुचि अभि
क्रमित अध्ययन (Programmed Learning) के प्रति हुई है । जिसका

गुण यह है कि विषय वस्तु अत्यन्त सुगठित, व्यवस्थित सहज ग्राह्य रूप में विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। संकल्पनाओं का निर्माण एवं विकास, निपुणताओं का प्रारम्भ एवं परिष्करण व्यवस्थित ढंग से होता है लेकिन यह सब कार्य एक सीमित दायरे में हो रहा है। आवश्यकता है शिक्षण की इस तकनीक से हम हमारे शिक्षा के समस्त अंग अर्थात् अध्यापक, पाठ्यपुस्तक, एवं सहायक सामग्री आदि में भी अभिनवन लावें। बहुत कम शिक्षाविदों ने इस पर गौर किया है कि किसी संकल्पना के निर्माण के लिए क्या-क्या सकारात्मक व क्या-क्या नकारात्मक उदाहरण क्रमबद्ध दिये जायें? या किसी जटिल विषय वस्तु की प्रस्तुति में अंश और पूर्ण की जमाव व्यवस्था कैसी हो?

शिक्षण में गुणात्मक सुधार लाने के लिए यह अध्ययन करना आवश्यक है कि अधिगम के नियमों का कक्षा शिक्षण संस्थितियों में कैसे उपयोग किया जाये? अध्यापक की समस्या है कि शिक्षण में अध्यापन विधाओं को किस तरह सुगठित किया जाये जिससे कि अधिगम के नियमों का पूरा लाभ प्राप्त हो सके। इस सम्बन्ध में कतिपय गिने चुने शोध कार्य हैं जो यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि इन सिद्धान्तों को कक्षा में कैसे प्रयुक्त किया जाये। ऐसे अधिकाधिक अध्ययनों की आवश्यकता है जो बताये कि सही अनुक्रियाओं के तात्कालिक पुनर्बलन पर अधिगम निर्भर है। इन नियमों के परीक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है। समस्या है इनके उपयोग को व्यवहार में उतारने की।

(ii) शिक्षानुसंधान का एक दूसरा उपेक्षित क्षेत्र है अध्यापक-क्षमता का अध्ययन। विद्यार्थी के व्यवहार में वाञ्छित परिवर्तन लाने के लिए अध्यापक किस प्रकार के व्यवहार करें? अध्यापक की प्रभावशीलता का मानदण्ड विद्यार्थी में परिवर्तन को ही बनाना जरूरी है। ऐसे ठोस अध्ययनों का अभाव है जो यह बतायें कि व्यावसायिक शिक्षण द्वारा प्रशिक्षित अध्यापकों में क्या-क्या परिवर्तन लाये जा सकते हैं। या जब ये प्रशिक्षित अध्यापक क्षेत्र में अपना सेवा कार्य प्रारम्भ करेंगे तो छात्रों पर क्या प्रभाव होगा? भावी अध्यापकों को क्या बातें पढ़ायी जायें और वे अध्यापक होकर क्या कार्य करें? कभी कभी इन बातों पर ऐसे विचार किया जाता है मानो शिक्षानुसन्धान कभी अस्तित्व में ही न रहा हो।

(iii) [illegible]

[illegible] सम्बन्ध क्या हैं। आज की शिक्षा नीतियों के कई मूल मुद्दे यही हैं। योग्यताओं के आधार पर किया गया कक्षाविभाजन या व्यक्तिगत शिक्षण प्रयास का औचित्य और बुद्धिमानी इस बात पर निर्भर है कि क्या अधिगम दरों में कोई वास्तविक अन्तर है? क्या ये अन्तर सीखने वाले की अभिरुचि अथवा अधिगम के पूर्व अनुभवों की मापन योग्य विशेषताओं के फल हैं?

व्यक्तियों के विभिन्न अभिरुचि स्तर ज्ञात होने पर अधिगम के लिए आवश्यक सर्वाधिक अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर इन व्यक्तियों की सर्वाधिक अधिगम दरों के बारे में उपलब्ध से अधिक जानकारी और सूचनाएँ चाहिए। ऐसी सूचनायें प्राप्त करने के लिए विद्यालयों में अधिगम के लिए सर्वाधिक अनुकूल परिस्थितियाँ खोज करनी होगी और शिक्षण विधियों पर प्रयोगात्मक अध्ययन श्रृंखला प्रारम्भ करनी होगी। अधिगम के लिए सर्वाधिक अनुकूल परिस्थितियाँ अधिगम दरें बढ़ाने के दृष्टिकोण से हो सकती है या सर्वाधिक धारण और स्थानान्तरण की दृष्टि से हो सकती है या सीखने वाले में सर्वाधिक सन्तोष और आत्म विश्वास पैदा करने की दृष्टि से हो सकती है। हमें ऐसी शोध श्रृंखलाओं की आवश्यकता है जो विस्तार और गहराई से यह ज्ञात कर सके कि माने गये विभिन्न अभिरुचि स्तर के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षण सम्विधियों में अधिगम की दरें और पाठ्यचर्यायें क्या क्या होंगी ?

ऐसे अध्ययन भी अप्राप्य है जो यह बता सके कि प्रारम्भिक विद्यालयीय अधिगम के बाद कितना समय व्यतीत होने पर कितना ज्ञान धारणा में अवशेष रहता है ? हम मानिकी मापन से यह बताने में बहुत कम समर्थ हैं कि अंक गणित सामाजिक ज्ञान या विदेशी भाषाओं के अधिगम में कितना अवशेष धारणा में बचता है ?

(iv) शोध ने विद्यालयीय अधिगम में अभिप्रेरण की भूमिका के बारे में हमें बहुत कम बताया है। बालकों को अधिगम में वास्तव में क्या अभिप्रेरित करता है ? उनको कैसे अभिप्रेरित किया जा सकता है ? शोध साहित्य हमें सूचित करता है कि रुचि-जाँचों और प्रश्नावलियों से मापा गया अभिप्रेरण अभिरुचि और विद्यालयीय सफलता से बहुत कम सम्बन्धित है। यद्यपि यह बात अधिगम सिद्धान्त से मेल नहीं खाती है तथापि विद्यालय अधिगम प्रक्रिया की सही गति विधि की हमारी जानकारी बहुत सीमित होने से हम इस अन्तः सम्बन्ध का मान निम्न होने के कारण नहीं बता पाते हैं। मसलोव व अन्य विद्वानों ने इसे (अभिप्रेरणा को) आवश्यकताओं से जोड़ने की प्रणाली प्रारम्भ की है पर अब भी ये प्रणालियाँ इस बात को स्पष्टतया समझाने या भविष्य वाणी करने में अपर्याप्त हैं कि व्यक्तिगत विद्यार्थी अधिगम हेतु कैसे उद्यत होने है। विद्यालयीय अधिगम के अभिप्रेरण का अध्ययन केवल पारितोषिक एवं दण्ड प्रणालियों का अध्ययन नहीं है बल्कि इसमें आगे का भी अध्ययन है कि ये सही पारितोषिक क्या हैं ? व इन पारितोषिकों की आवश्यकता कब होती है ?

उपर्युक्त सदर्भ में शिक्षा महाविद्यालय निम्नलिखित विधायक एवं विवेकमान भूमिका निभा सकते हैं —

(1) अपने प्रसार-सेवा क्षेत्र के शिक्षानुसंधान कमियों का सम्मलन आयोजित कर उनका एकान्तवास भंग कर, विचारों के आदान-प्रदान का समुचित मंच प्रदान कर शोध में दृयावृत्ति रोकना। अन्तर्विद्या क्षेत्रों में शिक्षानुसंधान दर विकसित करना। शिक्षानुसंधान वृत्ति को मान्यता व प्रतिष्ठा प्रदान करना।

व्यावसायिक शिक्षक-संगठन और शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रम: ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और संभावनाएँ

श्यामलाल कौशिक

भारतीय शिक्षकों के वर्तमान व्यावसायिक संगठनों के कार्य कलापों पर दृष्टिपात करें तो एक दो अपवादों को छोड़कर शेष सभी शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों के प्रति उदासीन रहकर अपना पूरा ध्यान शिक्षकों की आर्थिक स्थिति सुधारने पर केन्द्रित किये हुए प्रतीत होते हैं। इस स्थिति पर दुःख प्रकट करते हुए चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शैक्षिक आयोजन, प्रशासन एवं मूल्यांकन के लिए गठित कार्यकारी दल ने अपने प्रतिवेदन में ठीक ही लिखा है कि—

> 'यह दुर्भाग्य की ही बात है कि शिक्षक संघों ने तीन पंचवर्षीय योजनाओं एवं तीन वार्षिक योजनाओं में समुचित रुचि प्रदर्शित नहीं की है। उन्होंने उनकी आलोचना तक भी गहनता एवं व्यापक रूप में नहीं की जबकि उनसे अपेक्षा यह की जानी चाहिए कि वे मात्र आलोचना ही प्रस्तुत न करें बल्कि आवश्यक समझें तो वैकल्पिक योजनाएँ भी तैयार करें जिनकी तुलना नागरिक सब सरकारी योजनाओं से कर सकें और स्वयं निष्कर्ष निकाल सकें।'

परन्तु भारत में ही ऐसी स्थिति नहीं रही है। इतिहास साक्षी है कि भारत के प्रारम्भिक शिक्षक संगठनों की भी यह उल्लेखनीय विशेषता रही है कि उन्होंने शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों पर शिक्षक कल्याण कार्यों की अपेक्षा अधिक बल दिया। और यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी स्थापना ही मुख्यतः शैक्षिक समुन्नयन के उद्देश्य को लेकर हुई। पर बाद के वर्षों में ऐसा हुआ कि उन पर आर्थिक दबाव के कारण शिक्षकों के वेतन, भत्ता आदि पर अधिक ध्यान देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

उपलब्ध विवरण से ज्ञात होता है कि भारत का सर्वप्रथम शिक्षक संगठन सन् [illegible]८६० में मद्रास में मद्रास शिक्षक संघ के नाम से गठित हुआ जो पाँच वर्ष पश्चात् मद्रास टीचर्स गिल्ड बन गया। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य शिक्षा में गुणात्मक सुधार लाना था। बाद में जब सन् १९०८ में इस संगठन ने राज्य स्तरीय रूप ले लिया और इसका नाम साउथ इण्डिया टीचर्स यूनियन (एस० आई० टी० यू०) हो गया तब भी इसने शैक्षिक उद्देश्यों को प्राथमिकता देना जारी रखा और अपने घोषित लक्ष्यों में शिक्षा के प्रसार एवं शिक्षण विधियों तथा अनुसंधान के विकास को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। यह संगठन निरन्तर ही इस दिशा में अग्रसर रहा है और वर्तमान में जबकि अधिकांश अन्य शिक्षक संगठन आर्थिक स्थिति पर ही अपना पूरा ध्यान लगाये हुए हैं इसने अपना पथ नहीं छोड़ा है। यह संगठन अपने वार्षिक सम्मेलनों को शिक्षकों के आर्थिक पक्ष पर विचार करने का मंच न बनाकर शैक्षिक सम्मेलन के रूप में आयोजित करता है और उनमें सामयिक शैक्षिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श को प्रमुखता देता है। इसके अतिरिक्त यह संगठन प्रति वर्ष एक शिक्षा सप्ताह का आयोजन भी करता है जिसमें पूरे सप्ताह शैक्षिक वार्ताएँ चर्चाएँ की जाती है। शैक्षिक साहित्य के प्रकाशन में भी इस संगठन ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसकी दो मासिक पत्रिकायें दि साउथ इण्डियन टीचर' एव 'वासर काल्वी' के नाम से क्रमशः अंग्रेजी एवं तमिल में नियमित रूप से प्रकाशित होती है जिनके न केवल प्रत्येक अंक में ही शैक्षिक लेख रहते हैं बल्कि इन्होंने समय-समय पर विभिन्न विषयों के शिक्षण तथा अन्य शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों पर विशेषांक भी प्रकाशित किये है। यह संगठन मद्रास विश्व विद्यालय, तमिलनाडु शिक्षा विभाग एवं एन० सी० इ० आर० टी० के सहयोग से अनेक विचार गोष्ठियाँ, कार्य गोष्ठियाँ आयोजित करता रहता है। गत बीस वर्षों मे इस संगठन की दो सहयोगी संस्थाएँ—एस० आई० टी० यू० कौंसिल आव एजूकेशनल रिसर्च तथा सोसाइटी फोर दि प्रोमोशन आव एजूकेशन—काफी सक्रिय है और मूल्यवान् शैक्षिक सामग्री प्रकाशित करती रही हैं।

एस० आई० टी० यू० का यह उदाहरण अपवाद स्वरूप रहा हो ऐसी बात नहीं है। इसके बाद स्थापित होने वाले लगभग सभी शिक्षक संगठनों ने इसी आदर्श का अनुसरण किया। इन संगठनों मे नॉन गजेटेड एजूकेशनल आफिसर्स एसोसिएशन, यू० पी० (स्थापित १९२०) यू० पी० सेकेण्डरी एजूकेशन एसोसिएशन (स्थापित १९२१), ऑल बंगाल टीचर्स ऐसोसिएशन (स्थापित १९२१) एवं सन् १९२४ तक बम्बई, बड़ौदा,

हार, उड़ीसा, एवं सी० पी० में स्थापित होने वाले शिक्षक संगठन सम्मिलित हैं।
् १६२५ में अखिल भारतीय स्तर पर गठित होने वाला सर्व प्रथम शिक्षक संगठन ऑल
ल्स फेडरेशन आफ टीचर्स एसोसिएशन्स-के संस्थापक तो इस आदर्श से इतने अधिक
त-प्रोत थे कि उन्हें 'टीचर्स एसोसिएशन' नाम में श्रमिक संघ भावना की गंध आने
ी और उन्होंने सन् १६३३ में आयोजित प्रथम अधिवेशन में ही इस संगठन का नाम
ल कर 'आल इण्डिया फेडरेशन ऑफ एजूकेशनल एसोसिएशन्स' रख दिया
र अपने वार्षिक सम्मेलनों को न केवल अखिल भारतीय शैक्षिक सम्मेलन का नाम दिया
ल्कि उन्हें शिक्षकों के स्थान पर शिक्षा की समस्याओं पर विचार-विमर्श का मंच बनाया
ाम पर शैक्षिक विषयों में रुचि रखने वाले गैर शिक्षकों को भी एकत्रित करने का प्रयास
िया। यद्यपि यह संगठन निरन्तर इसी नीति पर चलने का प्रयत्न करता रहा है और
तमान में इसी पर कायम है परन्तु यह स्पष्ट है कि यह प्रभावहीन होता जा रहा है और
ति वर्ष तीन दिन का सम्मेलन कर लेने के अतिरिक्त प्रायः निष्क्रिय रहता है।

सन् १६४० के आसपास तक लगभग सभी भारतीय शिक्षक-संगठनों द्वारा शैक्षिक
ार्यक्रमों पर शिक्षक कल्याण कार्यों की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता रहा। परन्तु
धीरे-धीरे हवा का रुख भी बदल रहा था और आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ने के साथ-साथ
सामान्य शिक्षक उस ओर अधिक ध्यान देने के लिए बाध्य होने लगा था और उसमें
ुधार न होने देख उसका असन्तोष बढ़ने लगा। जब उसने देखा कि अन्य व्यवसायों के
लोग अपने संगठनों को आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने की दिशा में प्रभावी दबाव के
रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं तो उसके मन में भी यह भावना बलवती हुई कि क्यों न शिक्षक
भी ऐसा ही करें। और शिक्षक संघों का आगे का इतिहास शैक्षिक उद्देश्यों से हटकर
अपने सदस्यों की आर्थिक दशा सुधारने पर अधिकाधिक बल देने एवं इसके लिए संघर्षरत
रहने की कहानी है। अतः अब जो नये शिक्षक-संघ बने उन्होंने प्रारम्भ से ही शिक्षकों की
आर्थिक स्थिति के सुधार पर बल दिया। एक प्रकार से उनका जन्म ही इन उद्देश्यों
को लेकर हुआ। ऐसे शिक्षक-संघों में पंजाब और दिल्ली के शिक्षक संघों के नाम
विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

एसोसिएशन का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत है जिस पर शिक्षक ...
हितों की अवहेलना करने एवं इसके मुखपत्र 'एजूकेशन' पर ऐसे सैद्धान्तिक लेख प्रकाशित
करने के आरोप लगाये गये जो यू० पी० के शिक्षकों के किसी काम के नहीं थे। स्थिति
अन्त में यहाँ तक पहुँची कि सन् १६४६ में यू० पी० असिस्टेन्ट टीचर्स एसोसिएशन के नाम
से एक पृथक् संगठन की स्थापना होगयी जिसकी शक्ति इतनी तेजी से बढ़ी कि यू० पी०
सेकेण्डरी एजूकेशन एसोसिएशन को अपना अस्तित्व बनाये रखना कठिन हो गया। पहले
तो इसने शिक्षकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए हाथ पैर भी मारे और न केवल उनके
आर्थिक प्रश्नों में रुचि प्रदर्शित करना ही आरम्भ किया बल्कि 'एजूकेशन' का एक
परिशिष्ट भी इसी निमित्त प्रकाशित करना शुरू किया। परन्तु अन्ततः इस यू० पी०

असिस्टेन्ट टीचर्ज एसोसिएशन से मिलकर 'उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षक-संघ' बनाना पड़ा जिसने शिक्षकों की आर्थिक स्थिति को सुधारना अपना प्रमुख लक्ष्य घोषित किया। इसी प्रकार ऑल इण्डिया फेडेरेशन ऑव एजूकेशनल एसोसिएशन्स से निराश होकर सन् १९५४ में प्राथमिक शिक्षकों एवं सन् १९६१ में माध्यमिक एवं विश्वविद्यालयी शिक्षकों ने आर्थिक स्थिति पर समुचित ध्यान देने के उद्देश्य से अपने पृथक् अखिल भारतीय संघ बना लिये।

× × × × ×

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या वर्तमान स्थिति बनी रहेगी और भविष्य में भी भारतीय शिक्षक-संघ केवल आर्थिक पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किये रहेंगे ?

यह सोचना तो दुराशा मात्र होगी कि ये संघ पुनः पूर्व स्थिति पर लौट जायेंगे और शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों पर शिक्षक कल्याण कार्यों की अपेक्षा अधिक ध्यान देने लगेंगे परन्तु यह विश्वास करने के कारण हैं कि ये आर्थिक पक्ष के साथ-साथ शैक्षिक पक्ष पर भी समानरूप से बल देने लगेंगे जैसा कि ऑल बंगाल टीचर्स एसोसिएशन की महासचिव श्रीमती अनिलादेवी ने एक बार कहा था कि 'वर्तमान में भारतीय शिक्षक संघों का मुख्य कार्य अपने व्यावसायिक अधिकारों के लिए संघर्ष करना है ताकि वे भविष्य में अपने शैक्षिक दायित्वों का निर्वाह कर सकें।'

वास्तव में वर्तमान में भी शिक्षक-संघ यह स्पष्टतया जानते हैं कि शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लिये बिना उनका कल्याण नहीं। यदि उनके द्वारा अपने संविधानों में घोषित लक्ष्यों को निष्कर्ष का आधार माना जाय तो ऐसा एक भी शिक्षक संघ भारत में नहीं है जिसने शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों को उनमें सम्मिलित न किया हो। लेखक ने देश के विभिन्न शिक्षक संघों के जिन १०० के लगभग नेताओं से सम्पर्क किया उन सभी ने इस लक्ष्य को महत्वपूर्ण माना।

तो फिर शिक्षक संघ शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों के प्रति उदासीन क्यों हैं ? जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है आर्थिक प्रश्नों में उनकी अत्यधिक रुचि इसका मुख्य कारण है। परन्तु यह ही एक मात्र कारण हो या केवल शिक्षक संघ ही इस उदासीनता के लिए पूर्ण रूप से जिम्मेदार हों ऐसा कहना सम्भवतः पूर्ण सत्य नहीं है। इस स्थिति के लिए सरकारें तथा अधिकारी वर्ग भी कम जिम्मेदार नहीं है। केवल इसलिए नहीं कि उन्होंने समय रहते शिक्षकों के आर्थिक प्रश्नों को सुधारने की दिशा में समुचित प्रयास न करके उन्हें आर्थिक प्रश्नों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करने पर मजबूर कर दिया बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने शिक्षक संघों को शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों में भागीदार बनाने का कभी सच्चे दिल से प्रयास नहीं किया। सरकारों तथा अधिकारियों के इस व्यवहार को क्या कहा जाए कि [illegible]

[illegible]

वह शिक्षक संघों को शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों में कुछ भी योगदान कर सकने में सक्षम ही नहीं मानता। वह ऐसे इनेगिने उदाहरण भी दे सकता है जब कि शिक्षक संघों के प्रतिनिधियों से इस दिशा में निराशा हाथ लगी हो। उनकी बात को सत्य मान भी लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि शिक्षक संघों को इस स्थिति से उबारने में क्या उनका कोई

दंडित हो रहा है ? और फिर यह स्थिति क्या केवल शिक्षक संघों के लिए ही हानिकर है ? क्या इससे शिक्षा के व्यापक हितों को क्षति नहीं पहुंच रही है ? फिर यदि सरकार यह शिकायत करती हो कि वे शिक्षक संगठनों के सहयोग से किसी शैक्षिक समुन्नयन कार्य [illegible] है।

अब समस्या कठिन हो जाती है कि सरकार [illegible] नहीं करती। वे इस बहाने को क्या कुछ [illegible] जाता है कि विश्वास करने से ही विश्वास प्राप्त होता है।

फिर एक बार और शैक्षिक प्रश्नों पर शिक्षक संघों के साथ अधिकारियों द्वारा किया गया विचार विमर्श, विचारों का आदान प्रदान मात्र बनकर नहीं रह जाना चाहिए। निर्णय लेने में इस विचार [illegible] महत्व मिलना चाहिए। जैसा कि विश्व [illegible] ने विश्व शिक्षक संघ के सम्मेलन में कहा था

> विचार विमर्श तभी सार्थक हो सकता है जबकि इसमें भाग लेने वाले शिक्षक प्रतिनिधि अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत विचारों तथा प्रस्तावों के प्रति सहमति तथा असहमति [illegible] प्रकट कर सकें, किसी प्रस्तावना का अनुमोदन अथवा विरोध कर सकें, आवश्यक होने पर सरकार पर दबाव डाल सकें और उनकी नीतियों में परिवर्तन करा सकें। यदि विचार विमर्श का उद्देश्य केवल एक प्रतिवेदन तैयार करना मात्र हो किन्तु बाद में किसी अलमारी में बन्द करके रख दिया जाय या किसी भी प्रकार शिक्षकों की सहमति अथवा अनुमोदन प्राप्त करना ही अभीष्ट हो तो ऐसा विचारविमर्श न केवल निरर्थक ही सिद्ध होगा बल्कि हानिकर भी होगा। सच पूछा जाय तो यह विचारविमर्श का मखौल मात्र होगा ?

इसके साथ ही शिक्षक संघों को भी विवेक से काम लेना होगा और जैसा कि विश्व शिक्षक संघ के अध्यक्ष सर रोनाल्ड गोल्ड ने कहा है कि उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'यद्यपि वे सरकार को प्रभावित कर सकते हैं परन्तु वे स्वयं सरकार नहीं हैं।'

अन्त में यह कहना उचित होगा कि आवश्यकता उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की है। उनके अभाव के रहते शिक्षक संघों को शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रम आयोजित करने की सलाह देना संगत प्रतीत नहीं होता। कब ऐसा हो सकेगा कहना कठिन है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रम तब तक सफल नहीं होंगे जब तक कि शिक्षक संघों को उनमें भागीदार न बनाया जाय। अत उन्हें प्रत्येक स्तर पर शैक्षिक समुन्नयन कार्यक्रमों के उचित प्रतिनिधित्व (जिसकी संस्तुतियाँ कोठारी शिक्षा आयोग एवं चतुर्थ पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत शैक्षिक आयोजन, प्रशासन एवं मूल्यांकन के लिए नियुक्त कार्यकारी दल ने भी अपने प्रतिवेदनों में की है। जितना शीघ्र प्रदान किया जा सके उतना ही शिक्षा के व्यापक हितों की दृष्टि से अधिक उपयोगी होगा।

●●

विभिन्न शिक्षा आयोग और शिक्षक प्रशिक्षण

निहालसिंह शर्मा

सभी व्यवसायो मे सम्भवत अध्यापन का व्यवसाय सबसे बडा और महत्त्वपूर्ण है। संख्या की दृष्टि से सन् १९६५-६६ मे लगभग २० लाख अध्यापक प्रशिक्षित थे और लगभग इतनी ही संख्या मे अप्रशिक्षित। महत्त्व की दृष्टि से यह व्यवसाय इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका सीधा प्रभाव जनता पर पड़ता है। यह एक ऐसी शक्तिशाली मशीनरी है जो राष्ट्र के नव विकसित मस्तिष्क को चाहे जैसे साँचे मे ढाल सकती है। यदि अध्यापक शिक्षा के उद्देश्यो से भली-भांति स्पष्ट है और निष्ठा से कार्यशील है तो राष्ट्र का निर्माण व विकास के सही होगा और राष्ट्र उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। अत राष्ट्र के दार्शनिको, कर्णधारो, समाजशास्त्रियो एव शिक्षाविदो को शिक्षको के शैक्षणिक, बौद्धिक और वैयक्तिक स्तर को उच्च करने के लिये उचित प्रशिक्षण की ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिए।

हमारे देश मे अनेक शिक्षा आयोग स्थापित हुए और उनमे से प्रत्येक ने शिक्षक प्रशिक्षण सम्बन्धी अभिशसाएँ की। उनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

टरों को यह देखना है कि वे अभिलाषाएं कहाँ तक समयानुकूल थीं और सरकार ने
कहाँ तक उनकी पूर्तियाँ की।

हमारे देश के शिक्षक प्रशिक्षण का इतिहास तीन भागों में बाँटा जा सकता है -

पूर्व अंग्रेजी काल—१८३५ से १८८२
उत्तर अंग्रेजी काल—१८८२ से १९४७
स्वतंत्रता युग—१९४७ से १९७१

पूर्व अंग्रेजी काल (१८३५ से १८८२) भारत में पहले मोनीटोरियल व्यवस्था थी जिसके अनुसार आचार्य अपने शिष्यों को पढ़ाते थे और जिस ढंग से शिष्य पढ़ते थे उसी ढंग से उच्चतम श्रेणी का शिष्य निम्न श्रेणी के शिष्यों को पढ़ाया करते थे। शिक्षक प्रशिक्षण का कार्य सर्व प्रथम भारत में डेनिस मिशनरीज ने श्रीरामपुर में प्रारम्भ किया जहाँ प्रथम नार्मल स्कूल कैरी के द्वारा स्थापित किया गया। १८२६ ई० में सर-मुनरो द्वारा मद्रास में और कलकत्ता स्कूल सोसाइटी द्वारा कलकत्ता में दो प्रशिक्षण विद्यालय अध्यापक और अध्यापिकाओं के लिये खोले गये। १८५४ के वुड डिस्पेच द्वारा अध्यापकों के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया। १८५९ के ग्रांट इन एड के नियमानुसार उन्हीं स्कूलों को ग्रांट दी जाती थी जिनमें प्रशिक्षित अध्यापक होते थे। अतः १८८१-८२ तक भारत में १०६ नार्मल स्कूल खुल गये थे जिनमें ३८८६ छात्राध्यापक प्रशिक्षण पाते थे। इन में १५ नार्मल स्कूल स्त्रियों के भी थे। अध्यापकों की योग्यता 'प्राइमरी पास' होती थी। इनका पाठ्यक्रम डेढ़ माह से छः माह तक का था और केवल स्वास्थ्य, स्कूलप्रबंध तथा शिक्षण विधियों तक ही सीमित था।

उत्तर अंग्रेजी काल (१८८२-१९४७) भारतीय शिक्षा आयोग १८८२ ने माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों के प्रशिक्षण के बारे में सिफारिश की कि —

'शिक्षण सिद्धान्त एवं शिक्षण अभ्यास क्रम की एक परीक्षा प्रारम्भ की जाय जिसमें सफलता प्राप्त करने के पश्चात् ही कोई माध्यमिक विद्यालय का अध्यापक स्थाई किया जाय चाहे वे राजकीय स्कूलों में हो चाहे सहायता प्राप्त संस्थाओं में। इसके कारण स्नातक और अवरस्नातक अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये पाठ्यक्रम बने तब ६ प्रशिक्षण महाविद्यालय मद्रास, लाहौर, राजमुंद्री, कुरसियांग जबलपुर तथा इलाहाबाद में स्थापित हुए। पचास प्रशिक्षण विद्यालय अवर स्नातकों के लिये खुले। सन १९०४ के भारत सरकार के प्रस्तावों के अनुसार तीन बातें और हुई (१) प्रशिक्षण संस्थाओं की कक्षा बढ़ गई (२) स्नातकों का एक वर्ष और अवरस्नातकों का २ वर्ष का पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुआ (३) प्रशिक्षण महाविद्यालयों के साथ-साथ अभ्यास हेतु प्रदर्शन विद्यालयों की स्थापना हुई। बंबई, कलकत्ता, पटना, ढाका और जबलपुर में १९०६ और १९११ में [illegible] स्थापित हुए। १९१२ में भारत सरकार ने यह घोषणा की कि [illegible] भी अध्यापक को बिना प्रशिक्षण-प्रमाणपत्र के पढ़ाने की आज्ञा न दी जाय। [illegible] प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये सभी अध्यापकों को बाध्य किया। [illegible]

(१६२६) ने प्राथमिक स्तर के शिक्षक-प्रशिक्षण के सुधार के लिये अनेक सिफारिशें दीं जैसे (१) प्राथमिक शाला के अध्यापक की सामान्य शिक्षा का स्तर बढ़ाना, (२) अच्छे शिक्षक-प्रशिक्षक भर्ती करना। (३) अभिनवन पाठ्यक्रम की योजना प्रारम्भ करना। (४) अच्छे अध्यापक प्राप्त करने हेतु अच्छे वेतन मान रखना। इन सिफारिशों के फल-स्वरूप निम्नांकित परिवर्तन शिक्षक प्रशिक्षण के क्षेत्र में आये :

१ तीन प्रकार के शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय होंगये—(i) प्राथमिक शालाओं के अध्यापकों (ii) स्नातकों और (iii) अवर स्नातकों के विद्यालय।
२ प्राथमिक शालाओं के अध्यापक अब प्राइमरी के बजाय मिडिल पास होने लगे।
३ प्राइमरी के प्रशिक्षण विद्यालयों का स्तर माध्यमिक स्कूलों के समकक्ष होगया किन्तु शिक्षक प्रशिक्षण पर पूर्णत अधिकार पाश्चात्य दर्शन और पाश्चात्य प्रणालियों का ही था।

स्वतन्त्रता युग :—

सन् १६४४ के पश्चात् भारत ने यह अनुभव किया कि शिक्षकों की समुचित शिक्षा होनी चाहिये। अतः एक नयी सकल्पना और एक नया आदर्श उपस्थित हुआ। भारतीय नेता शिक्षा-दर्शन और शिक्षा के अभ्यासक्रम को एक नये सिरे में ढालना चाहते थे जिसमें लोकतन्त्रीय मूल्यों का समावेश हो। अत. मुदालियर माध्यमिक शिक्षा आयोग का गठन किया गया जिसने 'शिक्षक-शिक्षा' के बारे में अपनी सिफारिशें इस प्रकार प्रस्तुत की—

१ अध्यापक प्रशिक्षण के हेतु केवल दो प्रकार की सस्थायें होनी चाहिए। प्रथम वे विद्यालय जहाँ हायर सेकण्डरी पास अध्यापक प्रशिक्षण ले सकें। उनकी अवधि दो वर्ष हो। दूसरे वे महाविद्यालय जहाँ स्नातक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें। उनके लिये अभी एक वर्ष का पाठ्यक्रम हो लेकिन आगे उसकी अवधि दो वर्ष तक बढाई जा सके।
२. महाविद्यायल विश्वविद्यालयों से सम्बंधित हों तथा विद्यालय राज्य सरकारों के शिक्षा विभागों के अधीन बोर्डों से सम्बन्धित हों।
३. छात्राध्यापकों को अनेक पाठ्य सहगामी प्रवृतियों के प्रशिक्षण को प्राप्त करना चाहिए।
४. प्रशिक्षण महाविद्यालयों को चाहिए कि वे अपने आशिक सामान्य कार्य के रूप में संक्षिप्त गहन पाठ्यक्रम, व्यवसायिक कानफ्रेंस और वर्कशोपों का व्यावहारिक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करें।
५. प्रशिक्षण महाविद्यालय शिक्षण सिद्धान्त और शिक्षणक्रम के क्षेत्र में अनुसंधान का कार्य करें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वे एक प्रयोगात्मक स्कूल भी अपने अधीन रखें।
६. महाविद्यालयों में कोई ट्यूशन फीस न ली जावे। अपितु सरकार द्वारा सभी छात्राध्यापकों को एक उचित वजीफा दिया जावे। जो अध्यापक सेवा में हों उन्हें पूर्ण वेतन दिया जाना चाहिए।

७. सामुदायिक जीवन एवं अन्य पाठ्य सहगामी प्रवृत्तियों के प्रशिक्षण के लिये उचित निवास यानी छात्रावास की सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहियें।

८. एम० एड० के लिये वे ही अध्यापक प्रविष्ट किये जावें जिन्होंने बी० एड० के पश्चात् कम से कम ३ वर्ष का अध्यापन कार्य कर लिया है।

९. प्रशिक्षण महाविद्यालय के प्राध्यापकों और हायर सैकण्डरी के प्रधानाध्यापकों एवं निरीक्षकों के मध्य सुलभ्य से स्थान परिवर्तन होते रहने चाहियें।

१०. अध्यापिकाओं की कमी को दूर करने के लिए विशिष्ट अल्पकालीन पाठ्यक्रम प्रस्तुत किये जाने चाहियें।

उपर्युक्त दस सिफारिशों में से क्रम स० २, ३, ४, ७ और ९ का पालन प्राय भारत के सभी राज्यों में यथेष्ट हो रहा है किन्तु अन्य अनुमोदनों के अनुपालन में या तो रुचि हीन है या अथवा कठिनाई। राजस्थान में सिफारिश क्रम संख्या एक के अनुसार प्रशिक्षण विद्यालय द्विवर्षीय पाठ्यक्रम वाले चल रहे हैं किन्तु महाविद्यालयों की प्रशिक्षण अवधि अभी तक एक वर्ष ही चल रही है। यदि इस प्रशिक्षण को और अधिक गहन एवं समग्र बनाया जावे तो २ वर्ष की अवधि ही करनी पड़ेगी। इस समय इन महाविद्यालयों में केवल १८० कार्य दिवस ही होते हैं। इतने अल्प समय में सैद्धान्तिक शिक्षण तो सरलता से हो जाता है किन्तु प्रयोगात्मक शिक्षण, पाठ्य सहगामी प्रवृत्तियों तथा पाठ्य विषयों की पढ़ाई के लिये बहुत कम समय मिल पाता है। यदि यह अवधि और बढ़ा दी जावे तो प्रशिक्षण और अधिक गहन एवं व्यापक हो सकता है। content course की शिक्षा भी पूर्णतः दी जा सकेगी। उधर बेरोजगारी की समस्या आंशिक रूप में हल हो सकेगी।

क्रमांक ५ व ६ की सिफारिशों की पूर्ति हेतु आंशिक रूप में कार्य हो रहा है शिक्षक-प्रशिक्षक अनुसंधान कार्य कर रहे हैं किन्तु कठिनाई आर्थिक है। अनुसंधानकर्ता को अनुसंधान के लिये कुछ खर्चा भी मिलना चाहिए। साथ ही प्रयोगात्मक विद्यालयों की स्थापना अनिवार्य है। यदि राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है तो छात्राध्यापकों को पूरा वेतन व वजीफा भी दिये जा सकते है।

एम० एड० के प्रशिक्षण में प्रविष्ट होने के लिये अब कोई अधिक व्यक्ति आतुर नहीं अतः किसी प्रकार की रोक लगाना तो उचित ही नहीं है किन्तु इतना अवश्य हो कि एम० एड० के लिये केवल योग्य एवं इस क्षेत्र में कार्य की इच्छा वाले अध्यापक ही प्रविष्ट किये जावें न कि केवल पदवी धारण करने के उत्सुक अध्यापक। यदि तृतीय श्रेणी के अध्यापक इसमें प्रविष्ट किये गए तो उनमें मानसिक अशान्ति ही घर करेगी और शिक्षा विभाग का अनहित होगा।

आयोग ने अध्यापन के लिये क्रियात्मक विधि (एक्टीविटी मैथड) पर अत्यधिक जोर दिया है जिसको प्रशिक्षण महाविद्यालयों में अधिक से अधिक अपनाना चाहिए।

[illegible] ... के लिए पड़े।

मुदालियर शिक्षा आयोग की सिफारिशें बहुत ही व्यावहारिक एवं उपयोगी थीं। इसके पश्चात् सन् १९६४ में भारत सरकार ने शिक्षा के सभी स्तरों पर शिक्षा के उद्देश्य शिक्षण विधियाँ पाठ्यक्रम प्रशासन आदि पर राष्ट्रीय हित एवं भावी विकास को ध्यान में रखकर उचित दिशा निर्देशन हेतु एक और शिक्षा आयोग की स्थापना की जिसने सन् १९६४-६६ में सभी शिक्षा स्तरों का सर्वेक्षण करते हुए शिक्षा के सभी अंगों पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस आयोग के अनुसार शिक्षक प्रशिक्षण सम्बन्धी निम्नांकित समस्यायें दृष्टिगोचर हुई।

(१) प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों के प्रशिक्षण विद्यालय व महाविद्यालय विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक जीवन-धारा से दूर ही रह जाते हैं साथ ही स्कूलों की वास्तविक परिस्थितियों से भी वे दूर ही रहते है। उनका एक अलग आदर्श संसार है जिसका तालमेल न विश्वविद्यालयों से है न स्कूलों से और न समाज से।

(२) अधिकांश प्रशिक्षण संस्थाओं का स्तर गुणात्मक रूप से निम्न कोटि का है।

(३) योग्य शिक्षक प्रशिक्षक उधर आकर्षित नही होते।

(४) यथार्थ एवं सुदृढ़ता उनके पाठ्यक्रम में नही पाई जाती है केवल परम्परा का पालन होता है। वर्तमान आवश्यकताओं एवं लक्ष्यों को ध्यान में न रखकर अध्यापन की पुरानी तकनीकों से ही ये संस्थाएं चिपटी रहती है।

अत एक व्यापक सुधार कार्यक्रम आयोग ने निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया :—

[illegible] अलग-अलग पर ज्ञान अर्जन [illegible] शिक्षण संस्थाओं [illegible] में शिक्षक पाठ्यक्रम में बातों में परिवर्तन कर सकें। (च) [illegible] का [illegible] कार्य कुछ निश्चित समूहों में होना चाहिए जिनको विशेष अनुदान दिए जाय [illegible] का स्टाफ और शिक्षण साधनों में स्टाफ की [illegible] न हो। (छ) [illegible] शारीरिक शिक्षा के प्रशिक्षण संस्थान भी [illegible] स्तर के बनाकर विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित किए जाय। शिक्षा के कार्य बहुत व्यापक होने चाहिए। [illegible] कार्य होना चाहिए [illegible] अध्यापकों की शिक्षा के लिए उत्तरदायी रहे

(२) दूसरी समस्या **शिक्षण संस्थाओं के कमजोर स्तर को किस प्रकार उच्च कोटि का बनाया जा सकता है** उसके लिए आयोग के निम्नांकित सुझाव है

(अ) प्रशिक्षण के स्तर को सुधारने के लिए सबसे आवश्यक बात है प्रशिक्षकों के स्तर को सुधारना। इसके लिए निम्नांकित सुझाव आयोग ने प्रस्तुत किए है (i) विश्वविद्यालयों के सहयोग से पाठ्यविषयों की उच्चकोटि की जानकारी के लिए सुनियोजित प्रयत्न होने चाहिए जिनमें पढ़ाए जाने वाले विषयों की मूल सकल्पनाओं उद्देश्य एवं कठिनाइयों के प्रति उचित अन्तर्दृष्टि प्रशिक्षकों में उत्पन्न की जा सके। (ii) विश्वविद्यालयों में सामान्य शिक्षा व उच्च शिक्षा के मिश्रित पाठ्यक्रम प्रारम्भ किये जावें। (iii) मौलिक अनुसंधानों व विकास के द्वारा भारतीय परिस्थितियों पर आधारित करने शिक्षा क्षेत्र में होने वाले अध्ययनों को और गहन एवं दृढ़ करना। (iv) विकसित शिक्षण विधियों का प्रयोग करना जिनमें स्वाध्याय एवं चर्चा के लिए स्थान हो। मूल्यांकन की विकसित विधियों का प्रयोग करना जिनमें प्रयोगात्मक शिक्षण और सभी कार्य का निरन्तर आन्तरिक मूल्यांकन हो सके। (v) प्रयोगात्मक शिक्षण का सुधार हो। इसके लिए इन्टर्नशिप का एक व्यापक कार्यक्रम बनाया जावे। (vi) विशेष पाठ्यक्रमों एव विशेष कार्यक्रमों का विकास किया जावे। (vii) शिक्षक प्रशिक्षण के सभी स्तरों पर पाठ्यक्रम का सुधार होना चाहिए जिससे शिक्षा की विकसित व्यवस्था में विविध प्रकार के उत्तरदायित्वों को निभाने हेतु अध्यापक तैयार हो सकें। (viii) प्राथमिक शिक्षा के अध्यापकों का पाठ्यक्रम २ वर्ष का और माध्यमिक शिक्षा के अध्यापकों का पाठ्यक्रम १ वर्ष का हो किन्तु कार्य दिवस २१० होने चाहिएँ। (ix) प्रधानाध्यापकों एव शिक्षक प्रशिक्षकों के लिये नये उच्च व्यावसायिक पाठ्यक्रम विकसित किये जायँ। (x) अधिस्नातक पाठ्यक्रम अधिक लम्बे हों। वे शिक्षा के एकेडेमिक एव वैज्ञानिक अध्ययन को विकसित कर सकें। ऐसे महाविद्यालय वहीं खोले जायँ जहाँ उच्चकोटि का स्टाफ व सभी सुविधाएँ हों। ये महाविद्यालय विशिष्ट क्षेत्र में कार्य करने वाले विशिष्ट विशेषज्ञ तैयार कर सकें ऐसे पाठ्यक्रम वहाँ प्रारम्भ किये जावें। इनकी पाठ्यचर्या तीन सत्रीय होनी चाहिए।

प्रशिक्षण संस्थाओं के स्तरों का सुधार :—

(१) **माध्यमिक शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय** —इनमें दो विषयों में अधिस्नातक अध्यापक ही नियुक्त किये जावें। उनका एक विषय शिक्षा और दूसरा अकेडेमिक विषय

के स्तर को उन्नत करने के लिए प्रत्येक राज्य में शिक्षक-प्रशिक्षण-मंडल की स्थापना की जाए। शिक्षा आयोग ने अपना प्रतिवेदन २९ जून १९६६ को भारत सरकार को प्रस्तुत किया था परन्तु शिक्षा विभाग राजस्थान ने मई १९६६ में आबू संगोष्ठी में शिक्षक प्रशिक्षण-मंडल की स्थापना का निर्णय ले लिया था। राज्य सरकार ने मंडल की स्थापना की और इसकी प्रथम बैठक १९६६ में हुई। शिक्षक प्रशिक्षण मंडल के लिए निम्नलिखित कार्य-क्षेत्र निर्धारित किए गए—

(क) प्रशिक्षण-शालाओं के लिए स्तर का निर्धारण

(ख) अध्यापक-शिक्षण के पाठ्यक्रमों कार्यक्रमों परीक्षाओं पाठ्यपुस्तकों और शिक्षण सम्बन्धी सामग्रियों में सुधार

(ग) प्रशिक्षण शालाओं को मान्यता देने के लिए शर्तों का निर्धारण और उनके आवधिक निरीक्षणों का प्रबन्ध

(घ) संस्थाओं के परामर्शक विषयक सेवाओं की व्यवस्था

(ङ) इस बात का सुनिश्चयन कि निर्धारित पाठ्यक्रमों को पूरा करने वाले छात्र राज्य के स्कूल में पढ़ाने के लिए सक्षम हों और

(च) अध्यापक-शिक्षण के गुणवत्तामूलक और परिमाणमूलक विकास के लिए तात्कालिक और दीर्घकालिक आयोजना का निर्माण।

मण्डल की प्रथम बैठक में कई महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श कर निर्णय लिए गए जिनमें से कुछ विषय ये थे—शिक्षक-प्रशिक्षण-महाविद्यालयों की स्थापना एवं निर्धारण, शिक्षक-प्रशिक्षक का व्यावसायिक स्तर अध्यापकों के सेवारत-प्रशिक्षण क्रम, पूर्व-प्राथमिक शिक्षा, शिक्षा में उच्च अध्ययन एवं अनुसंधान और शिक्षक-शिक्षण विद्यालयों का नया पाठ्यक्रम। राज्य के विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित पात्रता की शर्तों का अध्ययन कर स्तर की दृष्टि से एकरूपता लाने और उसमें वृद्धि करने के बारे में सुझाव देने के लिए एक समिति का निर्माण किया गया। शिक्षक प्रशिक्षकों के ग्रीष्मकालीन शिविरों के आयोजन का निर्णय लिया गया। शिक्षक-प्रशिक्षण मंडल ने और भी कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए जिनका उल्लेख आगे की पंक्तियों में किया जा रहा है।

पारस्परिक अलगाव का निवारण—

पिछले पाँच-छः वर्षों में राज्य में शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या में पहले से भी अधिक वृद्धि हुई है। यह वृद्धि निजी क्षेत्र में ही हुई। वृद्धि की गति जब इतनी तीव्र होती है तो स्तर को बनाए रखना काफी कठिन हो जाता है, महाविद्यालयों का आपसी सम्पर्क टूट जाता है। एक महाविद्यालय को दूसरे महाविद्यालय से सम्पर्क बनाए रखने और आपसी अनुभवों से लाभ उठाने के लिए राज्य शिक्षा-विभाग ने एक योजना

बनाई जिसके अनुसार राज्य व्यय पर महाविद्यालयों के योग्य शिक्षक-प्रशिक्षक प्र
प्रशिक्षण महाविद्यालयों में जाएँ और सद्भाव के वातावरण में अपनी समस्याओं
चर्चा करें। इस योजना के अनुसार पिछले दो वर्षों से अलगाव दूर करने का कार्य
प्रकार चल रहा है।

प्राथमिक प्रशिक्षणशालाओं का स्तर ऊंचा करना—

शिक्षा आयोग ने इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण दो सिफारिशें की थी—

(१) प्रवेश की न्यूनतम योग्यता में वृद्धि करना और

(२) प्रशिक्षणालयों के अध्यापकों का स्तर बढ़ाना।

राजस्थान में इन दोनों सिफारिशों को क्रियान्वित कर दिया गया है। प्रशि
शालाओं में प्रवेश की न्यूनतम योग्यता सैकण्डरी परीक्षा थी। इसे बढ़ाकर पुरुषों के
अब हायर सैकण्डरी कर दिया गया है। इसमें छूट केवल प्रथम श्रेणी में सैकण्डरी परी
में उत्तीर्ण व्यक्ति को ही दी जाती है। महिलाओं की कठिनाइयों को दृष्टि में रख
उनके लिए कुछ विशेष सुविधाओं का प्रावधान किया गया है।

सन् १६६६ के पूर्व शिक्षक प्रशिक्षण शालाओं का स्तर सैकण्डरी स्कूल के बरा
ही था क्योंकि इन शालाओं के प्रधान को सैकण्डरी विद्यालय के प्रधान के समकक्ष
वेतन दिया जाता था परन्तु अप्रैल सन् १६६६ में इनके प्रधानों का स्तर हायर सैकण्
प्रधानों के बराबर कर दिया गया और १६७० में शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों के प्रधानों
शृंखला सामान्य हायर सैकण्डरी प्रधान से भी अधिक कर दी गई अर्थात् ६०० से ११०
इन विद्यालयों में प्रशिक्षकों की न्यूनतम योग्यता बी. ए./बी. एस. सी. बी. एड.
थी परन्तु १६६६ से न्यूनतम योग्यता एम ए/एम. एस.सी बी.एड. कर दी गई और वे
मान भी हायर सैकण्डरी विद्यालयों के वरिष्ठ अध्यापकों के समकक्ष कर दिया गया।

विषय-ज्ञान का पुन अनुस्थापन—

शिक्षा आयोग के अनुसार प्राथमिक और माध्यमिक दोनों ही स्तरों के प्रशि
कार्यक्रमों में पाठ्यविषयों के गहन और विस्तृत अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए।
सुनियोजित विषय-समावेशक पाठ्यक्रम होना चाहिए जिसमें मूल-भूत सम्प्रत्यय और
पाठ्यविवरण में उनके अनुप्रयोग का अध्ययन समाविष्ट हो जिससे स्कूलस्तर के शिक्षण
सहायता मिले।

शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय और शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में बी.एड. स्तर
पाठ्यक्रम में विषय वस्तु का समावेश कर दिया गया है। विद्यालय स्तर के लिए
[illegible]

विद्यमान कमी का निवारण—

सन् १९६५ के बाद प्राथमिक विद्यालयों मे नियुक्ति के लिए न्यूनतम योग्य सैकण्डरी परीक्षा कर दी गई परन्तु जो इसमे पूर्व कम योग्यता वाले अध्यापक नियुक्त गए थे उन्हे अपनी योग्यता बढाने के विशेष अवसरो का प्रावधान किया गया है। सेकण्ड परीक्षा देने के लिए अनुमति की आवश्यकता हटा दी गई। चूकि बाद मे शिक्षक प्रशिक्ष विद्यालयो मे प्रवेश की न्यूनतम योग्यता हायर सेकण्डरी कर दी गई अत: सेवा अध्यापको को हायर सेकण्डरी की अनुमति के लिए सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाने लगी।

जो अध्यापक काफी वर्षों से सेवा कर रहे है और अप्रशिक्षित है उन्हे प्रशि की सुविधा देने के लिए पत्राचार प्रशिक्षण पाठ्यक्रम आरम्भ किया गया। प्रशिक्ष प्रमाण-पत्र स्तर पर प्रतिवर्ष २०० से ३०० अध्यापक इस सुविधा का लाभ उठाते है शिक्षा आयोग ने यह सिफारिश की थी कि सभी प्रशिक्षण शालाओं मे अध्यापन शु बन्द कर दिया जाना चाहिए। राज्य द्वारा सचालित सभी प्रशिक्षण विद्यालयो अ महाविद्यालयो मे अध्यापको से अध्यापन शुल्क नही लिया जाता।

अन्तः सेवा शिक्षा—

सभी प्रकार के व्यवसायो मे यह आवश्यक है कि एक बार वृत्ति विशेष से परिचि कराने के बाद सतत प्रशिक्षण भी चालू रहे और उसके लिए और अधिक प्रशिक्षण त विशेष पाठ्यक्रमो की व्यवस्था रहे। शिक्षण वृत्ति के विषय मे इस प्रकार के सातत्य और भी अधिक आवश्यकता है क्योकि ज्ञान के क्षेत्र मे त्वरित विकास हो रहा है अं शिक्षा शास्त्रीय सिद्धान्तो और व्यवहारो मे भी सतत विकास हो रहा है। शिक्षा आयो ने सिफारिश की कि व्यवस्थित और समन्वित अत सेवा शिक्षा के कार्यक्रमो के ब पैमाने पर सगठन की आवश्यकता है ताकि प्रत्येक अध्यापक पाच वर्ष की प्रत्येक सेवावि के बाद दो-तीन महीने की अत सेवा शिक्षा प्राप्त कर सके।

राजस्थान अन्तः सेवा शिक्षा की व्यवस्था करने मे सब राज्यो से अग्रणी रहा है राज्य मे नियमित रूप वाले निम्नलिखित कार्यक्रम/सस्थाएं प्रारम्भ की गई—

१. अभिनवन प्रशिक्षण केन्द्र (प्राथमिक अध्यापक)
२ अभिनवन प्रशिक्षण केन्द्र (उच्च प्राथमिक अध्यापक)
३. अभिनवन प्रशिक्षण केन्द्र (उच्च प्राथमिक प्रधानाध्यापक)
४. ग्रीष्मकालीन शिविर—उच्च प्राथमिक विद्यालयों के हिन्दी, अंग्रेजी व विज्ञा अध्यापको के लिए।
५. ग्रीष्मकालीन शिविर—माध्यमिक विद्यालय के प्रधान अध्यापकों के लिए।

सन् १९६६ मे प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों को अन्त सत्राकालीन प्रशिक्ष देने के लिए नई विद्यालय स्थापित किए जिनमे चार सप्ताह के लिए बारी बारी

अध्यापक आते हैं। सारे राज्य को कई भागों में बांट कर यह व्यवस्था की गई कि प्राथमिक विद्यालय का प्रत्येक अध्यापक पांच वर्ष में एक बार अवश्य प्रशिक्षण ले ले। इस प्रकार उच्च प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए तीन केन्द्र खोले गए जहां छः सप्ताह के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। हिन्दी और अंग्रेजी अध्यापकों के विशेष प्रशिक्षण के लिए अलग केन्द्रों की स्थापना की गई। राज्य में एक केन्द्र उच्च प्राथमिक विद्यालयों के प्रधान अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए खोला गया। इन सभी कार्यक्रमों की अखिल भारतीय स्तर पर प्रशंसा हुई। भारतीय शिक्षक-प्रशिक्षण-मंडल ने अपने अहमदाबाद अधिवेशन में अन्य राज्यों को भी राजस्थान का अनुकरण करने का प्रस्ताव-पारित किया। पिछले वर्ष में इन केन्द्रों की संख्या में कमी कर दी गई है।

पिछले चार-पांच वर्षों में शिक्षा विभाग निरन्तर ग्रीष्मकालीन शिविरों का आयोजन करता है जिसके लिए दो लाख रुपयों का प्रावधान रखा जाता है। इन शिविरों में उच्च प्राथमिक विद्यालयों के हिन्दी, अंग्रेजी और विज्ञान अध्यापकों को अन्त सेवा-कालीन प्रशिक्षण दिया जाता है। हिन्दी और विज्ञान के शिविर छः सप्ताह के और अंग्रेजी के नौ सप्ताह के होते हैं। इनके अतिरिक्त माध्यमिक विद्यालयों के प्रधानाध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिए भी शिविर लगाए जाते हैं। इन शिविरों में सभी अध्यापक राज्य व्यय पर भाग लेते हैं और ग्रीष्मावकाश के कारण उन्हें उपार्जित अवकाश का लाभ दिया जाता है।

उच्च प्रशिक्षण को प्रोत्साहन—

राज्य में अध्यापकों की तीन वेतन शृंखलाएं हैं। तृतीय वेतन शृंखला के लिए निर्धारित न्यूनतम योग्यता सेकण्डरी या हायर सेकण्डरी के साथ शिक्षक प्रशिक्षण प्रमाण-पत्र है। इस वेतन शृंखला में रहते हुए जो अध्यापक स्नातक होकर शिक्षा स्नातक बन जाता है उसे अपनी ही वेतन शृंखला में तीन अग्रिम वेतन वृद्धियां दी जाती है। द्वितीय व प्रथम शृंखला और प्रधानाध्यापकों के लिए न्यूनतम प्रशैक्षणिक योग्यता बी. एड. है, उन्हें शिक्षा में अधिस्नातक होने पर अपनी ही वेतन शृंखला में दो अग्रिम वेतन वृद्धियां सन् १९७० तक दी गई। किसी कारण से ये बन्द कर दी गई परन्तु इन्हें पुनः आरम्भ करने के लिए सभी स्तरों पर सहानुभूति पूर्वक विचार होने के संकेत मिले हैं। यदि ये पुनः आरम्भ हो जाती हैं तो उच्च प्रशिक्षण को बहुत ही बढ़ावा मिलेगा।

शिक्षक प्रशिक्षण के क्षेत्र में शिक्षा विभाग राजस्थान ने कोठारी शिक्षा आयोग की कई महत्वपूर्ण सिफारिशों को लागू किया है। इस क्षेत्र पर समुचित ध्यान देने के लिए विभाग ने एक अलग अनुभाग की स्थापना भी की जो सेवा पूर्व और अन्त-सेवा शिक्षा की व्यवस्था और सुधार के लिए प्रयत्न करता है। आशा की जानी चाहिए कि शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम को [illegible] में राज्य शिक्षक प्रशिक्षण मंडल एक नई दिशा देगा।

●●

हिन्दी शिक्षण
प्रशिक्षण एवं प्रतिफलन

पुरुषोत्तम शिरगो

भाषा-व्यवहार के माध्यम के रूप में हिन्दी-शिक्षण हमारे विद्यालयों में, दो प्रकार के लक्ष्यों की परिपूर्ति चाहता है।

(क) भाषा-व्यवहार के माध्यम के रूप में विद्यार्थियों में ऐसे विषय-ज्ञान की भूमिका का निर्माण कि जिसके आधार पर वह आगे राष्ट्रभाषा-भाषी एक प्रबुद्ध नागरिक की भूमिका अदा कर सके।

(ख) साहित्य तथा भाषा तात्विक विषय के रूप में विद्यार्थी में ऐसे विषय ज्ञान की भूमिका का निर्माण कि जिस पर वह उन उच्चताओं को स्थापित कर पा सके जिनके आधार से—

- वह साहित्य सम्बन्धी अपना अगला अध्ययन दक्षतापूर्वक कर सके।
- वह भाषा सम्बन्धी अपने अगले अध्ययन-विश्लेषण का रुझान पैदा कर सके।

इन तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए कहीं हिन्दी विषय को एक ही अध्ययन-विषय मानकर उसमें उक्त तीनों अपेक्षाओं की परिपूर्ति की चेष्टा की जाती है (जैसे केन्द्रीय विद्यालयों में) तो कहीं हिन्दी विषय को दो अध्यापन-विषयों के रूप में विभाजित करके उनमें उक्त लक्ष्यों की परिपूर्ति की चेष्टा की जाती है (जैसे कि राजस्थान की माध्यमिक कक्षाओं में)।

जहाँ तक समझ पड़ता है राजस्थान में हिन्दी विषय की जिन दो कोटियों का निर्धारण किया गया है वे क्रमशः अनिवार्य हिन्दी के रूप में ऊपर कथित लक्ष्य १ (क) तथा विशेष हिन्दी (ख) के लक्ष्य को पूरा करने वाले नजर आते हैं।

और, माध्यमिक स्तर पर कार्य करने वाले हिन्दी अध्यापक से ये अपेक्षायें की जाती हैं कि वह इन दो कोटियों में निर्धारित हिन्दी विषय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों में—उन स्थितियों में जब कि एक ही विद्यार्थी दोनों स्तरों का अध्येता हो और उन स्थितियों में भी जब कि विद्यार्थी एक ही स्तर का अध्येता हो—यथावसर यथोद्दिष्ट ढंग से यथानिर्दिष्ट अभियोग्यताओं के उद्भव, विकास, समुन्नयन, सम्पुष्टि आदि के प्रयास करे।

बात को उसके मूल रूप में समझने के लिए हिन्दी अध्यापक से की जाने वाली इन अपेक्षाओं का विश्लेषण करें और यह जानने की चेष्टा करें कि हिन्दी विषय के उद्देश्यनिष्ठ शिक्षण की अपेक्षाओं की आपूर्ति के लिए हिन्दी अध्यापक के पक्ष में क्या-क्या उपादान उपलब्ध हैं तथा उसकी अपनी दृष्टि-गति तथा समुच्छ्रित तैयारियों की स्थितियाँ क्या क्या हैं।

जब हम हिन्दी शिक्षण में उद्देश्यनिष्ठ शिक्षण की बात करते हैं तब हमारी दृष्टि एक आधारभूत प्रश्न पर केन्द्रित होती है।

वह आधारभूत प्रश्न है?—

हिन्दी विषय की पाठ्यक्रमोद्दिष्ट दो कोटियों में आधारभूत अन्तर क्या है? उस अन्तर को जानने-समझने के लिए हिन्दी अध्यापक के सामने क्या मान-दण्ड है? और उस अन्तर का सुनिश्चयन करके अपने भाषायी कार्यक्रमों में भी वैसा ही अन्तर ला सकने हेतु उसके पास क्या-क्या आधारिक अभिकारक हैं?

यह सवाल बुनियादी है और हिन्दी विषय का उद्देश्यनिष्ठ अध्यापन करने वाले अध्यापक के लिए आधारभूत आवश्यकता इस बात की होती है कि उसे पता रहे कि उसे किस कोटि के विद्यार्थियों को क्या व कितना पढ़ाना है ताकि वह तदनुसार ही अपनी तकनीकों का विनिश्चयन कर सके।

यह आवश्यकता और भी अधिक आधारभूत हो जाती है जब एक ही अध्यापक को एक ही कक्षा में, एक-से विद्यार्थियों को दो भिन्न-भिन्न कोटियों का शिक्षण करना समदय रहता है।

हिन्दी विषय की पढ़ाई की योजना का आधार—विषय वस्तु तथा काल-विभाजन। सामान्यतः अपने भाषायी कार्यक्रम को तदनुरूप बनाकर चलने के लिए आधारिक साधन तीन माने गए हैं —

(क) पाठ्यक्रम।

(ख) निर्धारित पाठ्यपुस्तक।

(ग) निकाय या परीक्षण-अभिकरण द्वारा प्रामाणिकतया निर्धारित शिक्षणोद्देश्यों की तालिका।

माध्यमिक स्तर का वर्तमान पाठ्यक्रम हिन्दी अध्यापक को इस सीमा तक सूचना पाने में तो मदद करता है कि उसके द्वारा पढ़ाए जाने वाले विषय की परीक्षा कितने समय की होगी, और किस विभाग—यानी गद्य-पद्य, रचना व्याकरण आदि—के लिए परीक्षा में कितने अंकों के प्रश्न आएँगे।

तदनुसार, यदि परीक्षा के लिए निर्धारित अंक-मान और वर्ष भर में (या दो वर्षों में) हिन्दी अध्यापन के लिए अध्यापक को मिलने वाले समय में कोई अनुपात स्थापित हो सकता हो तो अध्यापक इस सूचना के आधार पर अपने कार्यक्रम में विविध विभागों यानी गद्य पद्य व्याकरण आदि को कहीं कम तो कहीं अधिक कालांश भले ही दे सकेगा। (यद्यपि इस स्थिति की कल्पना कर पाना कुछ कठिन ही लगता है) हिन्दी अध्यापक को जिस बात की आवश्यकता है, वह पाठ्यक्रम के विश्लेषण से पूरी नहीं हो पाती।

हिन्दी अध्यापक को अपना भाषायी कार्यक्रम बनाने में निर्देशक सूचनाएँ दे सकने वाली दूसरी आधारिक सामग्री होती है निकाय या परीक्षण अभिकरण द्वारा प्रामाणिकतया निर्धारित उद्देश्य तालिकाएँ।

राजस्थान में ऐसी एक तालिका का प्रकाशन यहाँ के माध्यमिक परीक्षा मण्डल द्वारा हुआ है और वैसी ही एक सामानान्तर तालिका राजस्थान राज्य शिक्षा संस्थान के हिन्दी प्रकोष्ठ द्वारा प्रकाशित हुई है। ये दोनो तालिकाएँ एक सी, बल्कि एक ही हैं और उन्हे क्रमशः कक्षा एक से कक्षा ग्यारह तक तथा एक से कक्षा आठ तक व्याप्त माना गया है।

इन तालिकाओ मे साराशत. हिन्दी विषय को भाषागत और साहित्यगत—दो कोटियो मे स्वीकार किया गया है। तदनुसार एक कोटि मे यानि अनिवार्य हिन्दी मे, उसके उद्देश्य-क्षेत्र माने गए है —

ज्ञानपरक

अर्थग्रहण-परक

अभिव्यक्ति-परक

अभिवृत्ति-परक

और, दूसरी कोटि मे इनके साथ-साथ समालोचना-परक एक पक्ष और जोड़ा गया है। (यह माध्यमिक परीक्षा-मण्डल वाली तालिका मे हुआ है)।

यानी, पाठ्यक्रमान्तर्गत विषय सकेतो तथा शिक्षणोद्देश्यो के अभिकारको तथा प्रयोजनो के आधार से हिन्दी का अध्यापक अपने भाषायी कार्यक्रम के लिए दो प्रकार की सामग्री चुनेगा। एक तो वैचारिक कोटि मे रखी जाने लायक तथा दूसरी भाषातात्विक कोटि मे रखी जाने लायक। तदन्तर्गत ही उसे यह भी विवेक करना होगा कि किन्ही स्थितियो मे ऐसी सामग्री भी वाछनीय होगी कि जिसमे वैचारिक तथा भाषातात्विक तत्व मिले-जुले और कभी कोई तो कभी कोई उनमे मुखरता लिए हुए भी होग। साधारणतया गद्य पाठो मे ऐसी स्थितियाँ उभरकर सामने आती है।

तदनन्तर, अध्यापक के भाषायी कार्यक्रम मे कुछ ऐसी प्रयुक्तियो और प्रवृतिकार्यों की भी अपेक्षा रहती है कि जिनकी चरितार्थता विद्यार्थियो मे सलक्षित अभिव्यक्तिपरक कार्यों तथा उनके नित्य भाषा व्यवहारो मे फलित होती दीख पड़े।

चूँकि भाषा-शिक्षण कोई वाग्यवी सूचनाओ के सकलन का शिक्षण नही है बल्कि वह व्यवहार के धरातल पर तत्काल सदर्शनीय—विद्यार्थी के शालायी जीवनक्रम मे ही—उसके भाषायी व्यवहारो मे चरितार्थ होने वाला शिक्षण है, अतः भाषा-अध्यापक के कार्यक्रमो मे वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो का एक विशेष महत्व माना जाना चाहिए।

निश्चिततया ये वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ अध्यापन-क्रम के उतने ही आवश्यक और अवश्य नियोजनीय अङ्ग माने जाए गे कि जितने साधारण पाठ-अध्यापन के पाठ रूप माने जाते है।

ये वृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ मानसिक तथा सास्कृतिक दृष्टि से भी उस मनोभूमि का निर्माण करती हैं, जो अध्येता को भाषा तथा साहित्य के विविध पक्षो के अधिक गहन तथा तात्विक अध्ययन के लिए उद्यत करती हैं।

तदनुसार हिन्दी-अध्यापक अपनी पाठ्यसामग्री के विश्लेषण द्वारा जिन उपादानो को भाषायी कार्यक्रम के लिए चुनने को उत्तरदायी होता है वे है :—

१—वैचारिक सामग्री।
२—भाषातात्विक सामग्री।
३—वृत्तियाँ-वैचारिक तथा भाषातात्विक।
४—प्रवृत्तियाँ-वैचारिक तथा भाषातात्विक।

ऊपर की संक्षिप्त सी दी गई टिप्पणी हमे माध्यमिक स्तर पर भाषा-शिक्षण (यानी हिन्दी शिक्षण) की परिभाषा देती है।

जिस ढग से हम विद्यालयो मे अध्यापन करते है और जिस ढग पर अपने विद्यार्थियो से अभ्यास करते कराते है, वह सब, ऊपर बताए गये हिन्दी शिक्षण के आशय से कितना कुछ भिन्न है यह सरलता से जाना जा सकता है।

की स्थितियों में भी अन्तर होता है और यह अन्तर अनेक अन्य कारणों से संयुक्त होकर अध्यापक द्वारा अर्जित कौशल के सार्थकतया अधिग्रहण, उपयोजन अथवा अनुपयोजन और कहीं-कहीं प्रत्युपयोजन को प्रवर्तित करता है।

प्रशिक्षणाधीन काल में अध्यापक को एक बहुत ही सीमित संख्या में पाठ देने होते हैं और अपने एक-एक पाठ की तैयारी का उसे आवश्यकता से अधिक समय भी मिलता है और निर्देश भी। साथ ही साथ उस पर विद्यार्थियों की उपलब्धियों या अनुपलब्धियों का सीधा दायित्व भी नहीं होता।

जिस विद्यालय में उसे अपने पाठ देने होते हैं वहाँ वह एक प्रकार से मुक्त सचारी जीव की भाँति जाता है और अपना काम मात्र कर वापस आ जाता है।

ऐसी स्थितियाँ उसे उन सब अपेक्षाओं व अभीप्सताओं से वंचित रखती हैं जो कि एक विद्यालयीय अध्यापक से की जाती है और जिनके लिए उसे उत्तरदायी माना जाता है। उदाहरणतया ऊपर जिस प्रकार से पाठ-विश्लेषण की आवश्यकता बतलाई गई है वह विद्यालयीय अध्यापक के लिए जितनी ही बाध्यता है, प्रशिक्षणाधीन अध्यापक उससे उतना ही मुक्त है। प्रशिक्षणाधीन अध्यापक अक्सर एक छोटी सी बात को लेकर शिक्षणगत तकनीकों का वितंडा फैलाने की जिस मनोवृत्ति से ग्रस्त रहता है वह विद्यालयीय अध्यापक के मन में यह धारणा बनाती और पुष्ट करती है कि उन प्रशिक्षणगत तकनीकों का अनुपालन करते हुए विद्यालयीय अध्यापक अपने सभी अपेक्षित संकल्पों को पूरा नहीं कर सकता।

प्रशिक्षणाधीन अध्यापक-क्रम में जिस तकनीकगत वितण्डा की बात कही गई है उसमें सदैव शिक्षणाधीन वैचारिक सामग्री की अधिकता होती हो ऐसा नहीं लगता, बल्कि कभी-कभी तो यह देखने में आता है कि शैक्षिक सामग्री की मात्रा अत्यल्प होती है और दो-दो या तीन-तीन रोलप बोर्ड और उन पर लिखे हुए शब्दार्थ या वाक्य या चित्रावली सब मिलकर एक अच्छे खासे प्रदर्शनकक्ष का वातावरण कक्षा में प्रस्तुत कर देते हैं। चूंकि प्रशिक्षणाधीन अध्यापक के पास समय है और साधन हैं और उसे अपने पाठ के देखने वालों को किसी सीमा तक प्रभावित कर सकने की वृत्ति है इसलिए वह वैसा सब कुछ कर लेता है। किन्तु एक विद्यालयीय अध्यापक के सामने ऐसी स्थितियाँ नहीं होतीं। वह अपना करता-धरता और उत्तरदायी स्वयं ही होता है और इसलिए वह अपने ढंग से अपने उत्तरदायित्व को निभाने का अपना रास्ता अपना लेता है।

प्रश्न यह नहीं है कि प्रशिक्षणाधीन अध्यापक जिन तकनीकों का वितण्डा फैलाता है वे सब तकनीकें अर्थहीन और अनावश्यक हैं। वस्तुतः अच्छी और नई तकनीकों का प्रयोग अत्यावश्यक है और स्वागत के योग्य है। सवाल यह है कि उन तकनीकों के संयोजन का ढंग कौन सा अच्छा है। कभी-कभी यह होता है कि तकनीकों का प्रस्तुतीकरण जिस वितण्डा के वातावरण में होता है वह विद्यार्थियों का ध्यान इतनी बुरी तरह अटक लेता है कि वे विषयवस्तु या भाषा के पक्ष पर जरा भी ध्यान नहीं दे पाते।

लिए भी आवश्यक है कि तकनीकों के प्रस्तुतीकरण में चमत्कार न पैदा करके जो
व शिक्षण योग्य है उसे अधिक मुखर बनाया जाय और लगता है कि विद्यालयीय
ध्यापक के सामने यही दृष्टि मुख्यतः प्रधान होती है।

तकनीकों के प्रस्तुतीकरण में प्रशिक्षणाधीन अध्यापक और विद्यालयीय अध्यापक
में जो अन्तर दीख पड़ता है वह यही विनण्डा की प्रधानता और उसके अभाव की स्थितियों
का है। विद्यालयीय अध्यापक अच्छी तकनीकों को लेकर भी उन सभी चार्टों और मान-
चित्र के स्थान पर अपनी कक्षा के श्याम पट्ट का अवसरानुकूल उपयोग करता रहे या
फिर मौखिक ढंग में भी उन तकनीकों को काम में लेता रहे तो प्रशिक्षणाधीन अध्यापन
और विद्यालयीय अध्यापन में काफी कुछ सन्निकटता आ सकती है।

ऐसा ही एक अन्तर पाठ-अध्यापन की विविध तकनीकों में अध्यापक के स्वतंत्र
से सम्बन्धित क्रिया-कलापों में है। उदाहरणतया-प्रशिक्षणाधीन अध्यापक पाठ के अध्यापन
क्रम में छात्रों द्वारा वाचन, उच्चारण और वर्तनीगत उपचार और प्रश्नाधृत पाठ-विकास
पर विशेष बल देते हुए चलता है, ताकि विद्यार्थियों में भाषा की प्रक्रिया प्रतिफलित
होती चले।

विद्यालयीय अध्यापक उन सब प्रक्रियाओं को अपने भीतर आत्मसथ करके चलने
युक्त पाता है और उस ढंग से चलते हुए वह मान लेता है कि वह निर्धारित सत्र में
रित पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्य-क्रम सचमुच पूरा कर लेगा और साथ ही यह धारणा
अपने भीतर पैदा कर लेता है कि प्रशिक्षणाधीन ढंग से चलते हुए वह वैसा नहीं
र सकेगा।

जहाँ तक निर्धारित समय में पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों की सम्पूर्ति का प्रश्न
उसे विद्यार्थियों में अभीष्ट भाषा प्रक्रिया के उद्भव के अभाव के मूल्य पर पूरा करना
न्दह कभी स्वीकार्य ही नहीं होगा। भाषा शिक्षण में यह मान्यता भी एक मूल्य रखती
है कि एक बार यदि विद्यार्थी स्वयं भाषा की प्रक्रिया में अध्यापक का भागीदार बन जाता
है तो आगे चलकर भाषा-शिक्षण की प्रक्रिया निरन्तर गतिशील होती जाती है और
अध्यापक कम समय में अधिक शिक्षण करने की स्थितियाँ पैदा कर लेता है।

अतः विद्यालयीय अध्यापन क्रम में सब तकनीकें (वाचन प्रश्नोत्तर शब्दार्थ
उदाहरण आदि) जिस ढंग से हम अपने में ही आत्मसथ करके चलते है उसके मूल में
सन्देह यह कारण हो कि हम अपने विद्यार्थी को भाषा प्रक्रिया में एक सक्रिय पक्ष के रूप
में स्वीकार करके नहीं चलते। या फिर एक कारण यह हो कि चूँकि हम अपनी शिक्षण
शब्दों को सुपरिभाषित नहीं कर पाये है, उसके नियोजन और संचालन का कोई
सुस्पष्ट रूप हमारे सामने नहीं है अतः शिक्षण की सब कार्रवाई अपने हाथ में रखे हुए
करना कक्षा में हमें अधिक सुगमकारक लगता हो।

एक बार यह स्वीकार करने पर कि भाषा शिक्षा मात्र सूचनात्मक कार्यक्रम नहीं

है, बल्कि वह सदैव ही क्रिया-प्रतिक्रिया-गत ऐसी स्थिति है जिसमें अध्येता स्वयं ही भाषा-प्रक्रिया में एक पक्ष होता है और वह स्वयं अपने को सीख रहा होता है, यह कल्पना करना दुर्भाग्यपूर्ण होगा कि कक्षा में अध्यापक-रूपी मुखस्रोत से ध्वनि प्रवाह फूटता रहे और अध्येताओं के कर्ण-गह्वरों को छूता हुआ या अन-छुए ही निरन्तर बहता रहे। विद्यालयीय अध्यापन क्रम की वह अतिदुर्भाग्यपूर्ण स्थिति मानी जायगी।

प्रशिक्षणाधीन अध्यापन तथा विद्यालयीय अध्यापन में एक आधारभूत विभेदीकरण इस पक्ष को लेकर भी विद्यमान है कि प्रशिक्षणकाल में अध्यापक को शिक्षण का सैद्धान्तिक पक्ष जितना आतंकित किए होता है उतना ही व्यावसायिक पक्ष उपेक्षित रहा जाता है। और विद्यालयीय कार्यक्रमों में मात्र व्यावसायिक दक्षता की अपेक्षाएं अधिक मुखर हुआ करती हैं। इसे यूं भी कह सकते हैं कि प्रशिक्षणाधीन रहते हुए अध्यापक सत्र भर में केवल बीस दिनों तक अध्यापन कार्य करता है जबकि विद्यालय में उसे सत्र भर में प्रायः १२०० दिनों तक अध्यापन कार्य करना होता है। स्वभावतः ही २० और १२०० में कोई समानुपात बैठ नहीं पाता और बिना किसी गूढ़ चिन्तन के अध्यापक यह मान लेने को विवश हो जाता है कि—प्रशिक्षण-प्रशिक्षण है और विद्यालय-विद्यालय है।

वस्तुतः ही प्रशिक्षणाधीन काल में निर्धारित की गई अध्यापन सम्बन्धी अपेक्षाएं हिन्दी अध्यापक के वास्तविक दायित्वों का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करतीं और इसलिए जो अध्यापक प्रशिक्षण में से ढल कर निकलता है वह अधूरा और दिशाहीन होता है। कुछ बातें विशेषतः ध्यान आकृष्ट करने वाली हैं कि जिनका अनिवार्य महत्व विद्यालयीय अध्यापन में होता है किन्तु प्रशिक्षणाधीन शिक्षण में उनके लिए कोई प्रावधान नहीं दीख पड़ता —

- प्रशिक्षणाधीन रहते हुए पाठ्यक्रम का विश्लेषण करने और पाठ्यवस्तु का अनुसरण करने सम्बन्धी व्यावसायिक दक्षता।
- पाठ्य-पुस्तकों का विश्लेषण करने तथा उनमें से सार तथा कक्षा के योग्य शिक्षण बिन्दुओं को चुन पाने की दक्षता।
- विविध शिक्षण बिन्दुओं को वर्ष भर में नियोजित करने, उनमें प्राथमिकता का क्रम निश्चित करने आदि का कौशल।
- भाषा के शिक्षण में पाठ्य-पुस्तकों से बाहर भाषा और साहित्य का जो व्यापक क्षेत्र है उसमें से यथा-अवसर अभीष्ट सामग्री चुनकर उसका उपयोग करने की योग्यता।

आवश्यकता इस बात की है कि प्रशिक्षणाधीन काल में भाषा-शिक्षण कार्य को पूर्ण व्यावहारिक कर दिया जाए।

●●

[illegible] आदि नहीं रह है उन सारी
बातों, सारा परिश्रम करने वालों का जिनके हम आज तक [illegible]
[illegible] अव्यावहारिक [illegible] आसान है। [illegible]
[illegible] विद्यालयों के काम की नहीं है, बोलती अव्यावहारिक है। [illegible]
है क्या पूर्व विषय की पूर्ण तैयारी न [illegible] चाहिए [illegible]
निर्देशिका का सहयोग नहीं लेना चाहिए ? क्या [illegible] उपयोग करना
आवश्यक नहीं है ? विद्यालय में उपलब्ध दृश्य-श्रव्य सामग्री का उपयोग करने में [illegible]
की [illegible] क्या कम होगी ? क्या [illegible] मूल्यांकन आवश्यक
रहा है ? यदि इनका और इन अन्य प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक हो [illegible]
[illegible] है कि जिन बातों पर प्रशिक्षण में बल दिया गया है वे विद्यालय में विस्तृत काम
की नहीं है और यदि विचार इसके विपरीत हों [illegible]
[illegible] भी पूरे मन से तैयार रहना चाहिए।

विस्तृत पाठ-योजना अव्यावहारिक है :

प्रशिक्षण-काल में अध्यापकों को केवल ४० पाठ (चार-पाँच अधिक भी हो सकते
हैं) ही देने होते हैं और इसकी वे काफी तैयारी करते हैं। पाँच छः पृष्ठ में दैनिक
पाठ-योजना बनाते हैं। यह कहा जाता है कि इस प्रकार के पाठ विद्यालयों में नहीं
बनाए जा सकते जहाँ प्रति दिन छः कालांश पढ़ाना पड़ता है अतः इस प्रकार की
विस्तृत पाठ योजना का प्रशिक्षण व्यर्थ है। यह सही है कि इस प्रकार की
दैनिक पाठ-योजनाएँ विद्यालय में नहीं बनाई जा सकती न कोई यह अपेक्षा करता है
और न किसी ने किसी भी स्तर पर ऐसी अपेक्षा आज तक की है। सही अध्यापन करने
के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है—प्रत्येक प्रश्न, कथन, अध्याप्य बिन्दुओं और
हर पद की उपयुक्तता पर विचार करना ताकि वे सभी मान्य सिद्धान्तों पर आधारित
हों। क्या अभ्यास के तौर पर यह सब करना आवश्यक नहीं है ? पदों की उपयुक्तता की
जाँच व उसे सही करने की कला प्रशिक्षण-काल में विकसित न हो तो फिर कहाँ हो ? यह
सभी मानते हैं कि अभ्यास में जो समय लगता है, उसे सीखने के बाद करने में उतना नहीं
लगता व काफी प्रक्रियाएँ सहज हो जाती है। आशा यही की जाती है कि प्रशिक्षण-काल
के अभ्यास से कुछ ऐसे सिद्धान्त आत्मसात् हो जाएँ। जिन्हें बाद में करने में न तो विशेष
सोचना पड़े और न परिश्रम हो। अभ्यास-काल में भी विस्तृत योजना न बनायें तो किस
प्रकार यह जानें कि कहाँ सुधार की आवश्यकता है ? किस प्रकार परिवीक्षकों के निर्देशन
का लाभ उठाएँ ? फिर तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि अध्यापन-कला सीखने के लिए
विस्तृत पाठ-योजना बनाना जिसमें हर पद सम्मिलित हो, आवश्यक है और अभ्यास
हो चुकने के बाद ये क्रियाएँ स्वतः हो उठेंगी। और तब विद्यालयों में इस प्रकार की
विस्तृत पाठ-योजनायें बनाने की आवश्यकता नहीं होगी। उद्देश्य पाठ-योजना बनाना
नहीं, पाठ-योजना के माध्यम से सफल शिक्षण का प्रशिक्षण लेना है और जब यह हो
चुकता है तो भला वैसी ही पाठ-योजना की आवश्यकता क्यों होगी ?

In fact he wanted to teach the word through a purely verbal communication. It didnot seem to occur to him that a simple line drawing of a balance, developed on the black board could have saved the teacher's labour and taught the students better

But, while some teachers avoid the use of figures and diagrams others overdo the thing The author remembers, a pupil teacher making use of a beautifully executed poster showing a famine scene When asked as to what they could observe in the picture, students hinted at poverty, family quarrels butcher house scene and even acute stomachaches but never a famine

Still another observation during practice teaching sessions was that some practising teachers want to communicate every thing through previously prepared pictures. Even common place things intimately known to students find a pictorial representation which, perhaps makes students take the teacher to be a juggler and not a teacher.

The question arises, as to what the teacher may do Precisely

(a) When should a teacher use an illustrative aid ?

(b) How should he use it ? and

(c) Why should he use it ?

(a) When should a teacher use an illustrative aid ?

Perhaps the most apt answer to the question would be— use an aid when it is most needed.

It can be readily seen that all class-room teaching to be successful should at least develop two things : (a) building associations, and (b) developing discriminations, so that learner not only knows but understands the concepts to be taught.

'Associations and discriminations' jointly help a learner in learning. These may be visual or verbal expressions, or if need be, a combination of both

'मन् फोर्टीन नाइनटी एट
तैमूर पहुंचा दिल्ली मट,

ɩspect of Teachinƹ
ǥlected in Practice

C. B. Mathur

To the author of this paper teaching is a conscious, deliberate attempt of the teacher to communicate at an understandable level with his students. All his manoevres, whether verbal or otherwise have one set purpose : to communicate, and communicate well so that he teaches, and his students learn what he wants them to learn.

Although this teaching procedure is typical to individual teachers, there are common elements that can be spotted out in all classroom teaching. Every method has its own value and effectiveness but a good teacher moulds his procedure as and when need for change arises. Take for instance the English Teacher who felt very much embarrased when inspite of very cunningly framed questions like 'What does a shopkeeper weigh with ?' and numerous others of the type, he failed to get 'balance' as a response.

In fact he wanted to teach the word through a purely verbal communication. It didnot seem to occur to him that a simple line drawing of a balance, developed on the black board could have saved the teacher's labour and taught the students better

But, while some teachers avoid the use of figures and diagrams, others overdo the thing. The author remembers, a pupil teacher making use of a beautifully executed poster showing a famine scene When asked as to what they could observe in the picture, students hinted at poverty, family quarrels butcher hou e seen and even acute stomachaches but never a famine

Still another observation during practice teaching sessions was that some practising teachers want to communicate every thing through previonsly prepared pictures. Even common place things intimately known to students find a pictorial representation which, perhaps makes students take the teacher to be a juggler and not a teacher.

The question arises, as to what the teacher may do Precisely

(a) When should a teacher use an illustrative aid ?

(b) How should he use it ? and

(c) Why should he use it ?

(a) When should a teacher use an Illustrative aid ?

Perhaps the most apt answer to the question would be— use an aid when it is most needed.

It can be readily seen that all class-room teaching to be successful should at least develop two things . (a) building associations, and (b) developing discriminations, so that learner not only knows but understands the concepts to be taught.

'Associations and discriminations' jointly help a learner in learning. These may be visual or verbal expressions, or if need be, a combination of both

'मन् फौर्टीन नाइनटी एट
तेमूर पहुँचा दिल्ली गेट,

The author is cognizant of the fact that many good teachers would not make use of the suggestions made hereafter but find their own way to teach, and, perhaps teach better than many. Since all teachers are not talented teachers we may assume the aids to have some importance.

It would be relevant to present some examples of what black-board illustrations can do. Here are a few examples to illustrate the point. To the author it appears that illustrations can do some of these jobs :

I. Avoidance of Lengthy Verbal Expressions

The author is sure that a social studies teacher would not be able to show verbally how much similar the extinct script of the Indus Valley Civilization and that of Easter Island are. I donot doubt that inspite of long descriptions, and verbal images I would not be able to let my students be any the wiser on the point. But if I preferred, I would draw the following on the black-board (and if I liked, I would get a chest prepared and exhibit it in the class room) and not only save my breath but communicate what I wanted.

लिपियों की समानता

सिंध | ईस्टर द्वीप

2. Clarifying Situations and Informations.

Specially in lower classes situations should be clear and informations should be so presented that no confusions are caused. As a student of class VI I was told that with he, she, it and a singular subject, 'has' is used, and with we, you, they and plural subjects, 'have' is used. And examples were also given. Following the rules of grammar for one complete year I somehow managed with 'I has' (since 'I' is singular) and never knew whether to use a 'have' or a 'has' with 'you' since it was both, a singular as well as a plural. It was not the rule of grammar but the rule of the rod which could teach me the discriminations. I wish my teacher had shown us the following chart

I we you they Plural Subjects	have	
He she It Singular Subject.	has	

And similarly, does the following not say how much contribution each party got from big industrial concerns ?

बड़े उद्योगो द्वारा दिया गया धन

And figures also yield to willing learners. The first eight digit figure is such a one. If (91) is taken out of 2,91,98 we get (298) I mean, the last part of this formidable number.

[illegible]ate Important Points .

A nicely planned isolated sketch or a series of sketches are very [he]lpful in locating points of information. I doubt if simply asking [stu]dents to locate their hearts would tell them much. Perhaps, asking [th]em to locate it after viewing these simple figures would prove more [use]ful
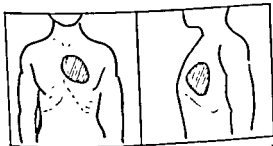
Similarly, perhaps a geography teacher would rather take help of such a map, than simply dictate the items of export and import from the various ports of India.
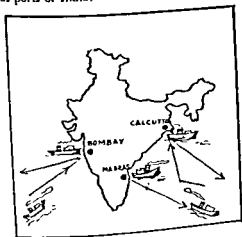
Simulates Situation For Better Understanding .

First hand experience is considered to be the best in teaching. But inspite of a teacher's sincere wish to give the best to his students, I

have not known any English Teacher so far who would like to teach a discrimination between stumble, topple, tumble, trip etc. through a first hand experience involving himself or the students.

If I were that sincere teacher, I would do it by asking my students to imagine a situation like this :
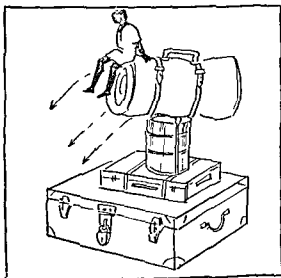
and ask them what would happen if the child (as shown in the figure) *were also made to sit as he is. I shall hope my* students will know the meaning of 'tumble.' Another quickly drawn situation of a running boy, heedless of the big stone in the way, would teach them what should 'stumble at' mean. Numerous other examples can be given of how illustrations can be helpful in teaching

Similarly a diagram of a gunner shooting on, bullets can convey the effects of an 'action' in a science class

The action and reaction, acting in opposite directions will thus get fixed up with understanding Not only this Illustrations developed on the black-board can be expected to do much more They can build discriminations :

Building Discriminations :

In situations involving minute difference between things, actions shapes etc. discriminations must be built, as in the case of action verbs like 'walking', running, jumping, hopping etc
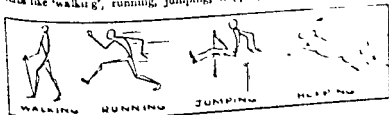
Build Associations

Examples of verbal association have already been ... Let us see how diagrams also can do it easily In geometry ... have been named after the number of ...

△	□
Three sides	Four sides
तीन भुजाएँ (त्रिभुज)	चार भुजाएँ (चतुर्भुज)

A simple diagram, numbering of sides and the association at once built

Teach Concepts

Quick Black-board sketches prove helpful in teaching concep which cannot be otherwise taught, for instance, the meanings (squares of different added or subtracted algebric numbers :
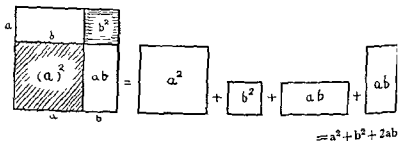
Similarly, students of secondary classes would perhaps find it easy to understand that the three angles of a triangle are not always equal to two right angles thus .
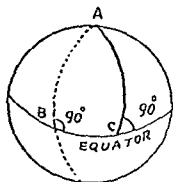
$\angle ABC = 90^\circ =$ a rt $\angle$.

$\angle ACB = 90^\circ =$ a rt $\angle$.

$\therefore \angle ABC + \angle ACB + \angle BAB$

$= 90^\circ + 90^\circ + \angle BAC$

$=$ a rt$\angle$ + a rt$\angle$ + $\angle BAC$

$=$ 2 rt$\angle$s + $\angle BAC$

$=$ more than two right angles.

I believe that black board illustrations, examples of which have urnished are not the only ones. A resourceful teacher knows e can find numerous others which may make his work easy. He lso find that they have potentialities of doing things already bed and also in presenting faithfully series of actions as in science s. Positions of the piston, and the valves in water pump, plans ttles and strategies of conflicting forces etc for instance, in e and history respectively can be effectively shown in the class- with the help of sketches.

Various other situations arise in the class-room wherein pictorial sentations, quickly developed on the black-board prove helpful in ing.

They not only teach but condense information proving themselves e very helpful while summarising developed points, presenting epts which would require long verbalisations, and presenting the terial for better grasping.

I do believe that every teacher is not an artist, and also that he d not be. What is required is not beautiful drawings, but good derstandable drawings alone. Drawings which may not be misin- preted and misunderstood; drawings which require long time in mpletion but drawings which may be developed with reasonable dness and accuracy.

Black-board sketches have many potentialities which sadly hough we as teachers are feeling reluctant to explore My experience akes me believe that the type of drawing required for such figures an be easily learnt within a fortnight and mastered with a conscious ractice and use. As such I believe that we as teachers may do etter to shed our shyness at trying to utilise such simple sketches and try to communicate with our students in this universal language as well, which is decidedly beyond cultural and geographical boundaries.

••

खण्ड चतुर्थ

शिक्षानुसंधान

Fruitfulness of Supervisory Remarks

P L Verma, J N Purohit, H N Mishra

Introduction

During the student teaching experience, the student teachers receive highly personalized guidance and diagnostic feed-back on their performance from their supervisor or supervisors. Studies in learning indicate that in shaping the future behaviour of student teachers informational reinforcement is an essential factor [1]

One of the most commonly used practices by the supervisors is a class room visit during which he observes the practice teaching and puts supervisory remarks. It is through these remarks that the 'supervisee' is a base for interaction between the supervisor and [illegible] takes place. Hence, these established and more often interaction [illegible] significant instrument to [illegible] remarks serve as a powerful and significant [illegible] stereotyped remarks that supervisory liabilities. But "the typical stereotyped [illegible] The lesson is [illegible] sometimes a supervisor passes for lessons like, [illegible] needs improvement lines', 'Satisfactory work', 'Blackboard writing [illegible] couched in a vague [illegible] constitute only sanctimonious homilies [illegible] reflected in the trainee's [illegible] and dismal aimlessness equal to one reflected in the class-room" [illegible] on his performance in the class-room

	Categories	Observed/inferred behaviour	Examples of Remarks
Socio Emotional climate	4. Negative response.	Discourages, shows tension, warns, threatens.	(1) "Examples given by you were absolutely irrelevant (2) "Your lesson will be rejected if you don't get it approved in time." (3) "Your preparation is not satisfactory."
	5. Positive response	Encouraging, praises, releases tension, compliments.	(1) "The teacher could elicit subject matter from the pupils to a great extent on right lines." (2) "One thing I assure you that you are proceeding on right lines."
Wastage	6. Vagueness.	Stereotyped statements, vague statements, statements which convey no meaning.	(1) "Good", "Satisfactory", i.e. Writing only the adjectives without specifying any noun item. (2) "On the whole the lesson was satisfactory." (3) "Improve your B. B. work." (4) "Pronunciation effective."
	7. Repetition.	Repeats successively more than twice, repeats more than twice in twenty lessons of the same pupil teacher.	*Justification of the criteria of repeating a remark twice or more.* It is assumed that by repeating a remark twice it must have been communicated to the pupil teacher and he or she must have sought guidance for it from the supervisor.

As the data were analysed at three different places by the three [in]vestigators separately, the investigators, to maintain reliability in interpretation, analysed a few remarks and repeated the [pra]ctice of tallying the results till a very high consistency was achieved.

[Find]ings

It has been found that normally a supervisor puts about 8 [rema]rks on a lesson. The collegewise breakup of the average remarks [has] been presented in the table No. II that follows —

TABLE II

Colleges	Lessons under study	No of remarks given by the supervisors	Mean scores of remarks on a lesson
2	3	4	5
College A	179	1493	8.3
College B	157	2090	13 3
College C	173	1277	7.4
College D	178	864	4.8
Total :	687	5724	8.3

It shows that College B has the highest mean score of remarks, [almo]st thrice the mean score of remarks on a lesson in College D. [Co]llege A stands next from the top. It may here be noted that the [sp]ecial feature of these two colleges A & B is that a proforma [co]ntaining 10-11 areas of student teaching, has been given after [ea]ch lesson for recording observation notes. The specified areas are [p]reparation of lesson, blackboard work, use of visual aids, teachers' [p]ersonality, discipline etc, and the supervisor, as such, is indirectly [b]ut continuously reminded not to ignore/skip over any area during [hi]s observation. There seems to be some relationship between this [f]eature and the rate of average remarks given by a supervisor but [thi]s is a hypothesis for further investigation by interviewing the concerned college lecturers.

The distribution of mean score of remarks according to supervisors' experience has been tabulated as follows —

TABLE III

Supervisors' Experience	Lessons	Remarks	Mean score of remarks on a lesson
For Supervisor having less than 3 years experience	234	1892	8.99
For Supervisor having 3 to 5 years experience.	234	1906	8.1
For Supervisor having more than 5 years experience	219		8.99

The figures indicate that there is no relationship between the experience and the quantity of remarks. The mean scores of remarks on a lesson given by the supervisors with less than 3 years experience is surprisingly the same as those given by the supervisors with more than 5 years experience. It may be that the comparatively new supervisors are full of over-enthusiasm and the matured ones have more to say by virtue of their experience.

TABLE IV

S. N.	Colleges	*Task related remarks*				Remarks related to socio emotional behaviour			Wastage			N
		Constructive Suggestions	General Suggestions	*Informa-tional*	Total	*Negative reaction*	*Positive reaction*	Total	Vagueness	Repetition	Total	
1.	A	168 (11.2)	204 (13 7)	509 (34.1)	881 (59)	21 (1.4)	95 (6.4)	116 (7.8)	64 (4.3)	432 (28.9)	496 (33.2)	1493 (100)
2.	B	288 (13.7)	378 (1.81)	613 (29.3)	1279 (61.1)	66 (3.2)	136 (6.5)	202 (9.7)	99 (4.8)	510 (24.4)	609 (29.2)	2090 (100)
3.	C	169 (13.2)	228 (17.8)	320 (25.1)	717 (56.1)	33 (2.4)	128 (10.1)	161 (12.5)	192 (15.1)	207 (16.3)	399 (31.4)	1277 (100)
4.	D	122 (14.1)	226 (26.1)	162 (18.8)	510 (59)	35 (4.1)	28 (3.2)	63 (7.3)	178 (20.6)	113 (13.1)	291 (32.7)	864 (100)
Total –		747 (13.1)	1036 (18 1)	1604 (28)	3387 (59-2)	155 (2.7)	387 (6.8)	542 (9.5)	533 (9.3)	1262 (22.1)	1795 (31.3)	5724 (100)

(Note : The figures in brackets are the percentage figures)

From the above table the following noteworthy points emerge.

(1) The percentage of constructive suggestions in remarks is nearly the same in all the colleges. The mean percentage of such remarks is 13% (approxly.) Such remarks have actually the highest degree of fruitfulness as they give concrete direction to student teachers and are liked by the majority. The observation gets strengthened by similar results obtained by Mukerjee, (1960)

(2) There is a slight variance in the percentage of remarks of general suggestion type in the college under reference. The mean percentage score of such type of remarks is about 18%.

(3) The remarks of informational nature are just 28% but the percentage varies from college to college, the range is 16

(4) On the whole the range of the task related remarks in the college is quite narrow being only 5. The mean percentage of the task related remarks of all the colleges is 59 2, which is quite close to the median. It implies that nearly the same weightage is given to task relatedness in remarks in these colleges

(5) Though with slight variation in individual colleges, the mean percentage score of remarks indicating the negative type of socio emotional behaviour of the supervisor is happily 2.7 as compared to 6 8 of the positive type. This tends to reflect a caution to supervisors in entering this type of remarks. The implication, as getting verified by other studies is that "the negative type of reaction on the part of the teacher has very bad effect on the mental health of his pupils"

(6) Wastage because of vagueness in remarks in the colleges is to the tune of 9.3 percent, while because of repetition-unnecessary repetition of course, it comes to 22 1%. The total wastage is 31.3% that is nearly one-third of the total remarks. It means one-third of the supervisors' time and energy devoted to putting down the remarks is a wastage. It is one of the noteworthy findings of this study which the supervisors and the persons involved in supervision programme should think seriously.

showing the distribution
ence and fruitfulness and

TABLE V

Supervisors	Task related remarks N=3387	Socio-emotional behaviour in remarks N=542	Wastage in remarks N=1795	*Total* N=5724
1. Supervisor with less than 3 years experience.	931 (50.0)	163 (8.7)	768 (41.3)	1862 (100)
2. Supervisor with three to five years experience.	1240 (65.1)	249 (13.0)	417 (21.9)	1906 (100)
3. Supervisor with more than five years experience	1216 (62.2)	130 (6.7)	610 (31.3)	1956 (100)
Mean Percentage.	(59.2)	(9.5)	(31.3)	(100)

The figures in the brackets denote percentage.

To study the relationship between the supervisors' experience and the variables of observation, coofficient of contingency was calculated assuming null hypothesis. The observed value was much less than the table value, so it means there is no cause to suspect the null hypothesis and that the data do not suggest that the experience is significantly related to the variables

The authors found that the supervisors rarely indicated the stage of student teaching (i e. introduction, presentation or recapitulation) at which the lesson was observe and remarks given by them. This leaves them to miss these two advantages:—

(a) Supervisor may not know the particular stage of student teaching process which has never been observed by them

(b) Students often fail to relate the remarks with the particular stage of the development of the lesson. This lack of information leads to increased vagueness in remarks.

CONCLUSION

The main conclusions of the study are .—

(i) Normally a supervisor puts about 8 remarks on a supervised lesson. It means if all the 40 lesson given by student teacher in two subjects are supervised, the total number of remarks is about 320. This is quite a low index of interaction in view of the stuff being admitted in the training colleges these days.

(ii) About one-third of the supervisors remarks are a wastage of time and energy.

(iv) Constructive criticism in remarks is only 13% i e about eighth part of the total remarks.

(v) Task related behaviour shown by the supervisors in the remarks is 59.2%.

(vi) Negative reaction experessed by the supervisors is only 2.7% as compared to 6 8% positive reaction.

(vii) No significant relationship was found between the supervisors' experience and the fruitfulness and wastage in remarks

(viii) Supervisors do not indicate the stage of the process of student teaching they observe.

1. Victor G Cicirelli · University Supervisors Creative ability & their Appraisal of Student Teachers' *The Journal of Educational Research* Vol 62 No. 8 (April, 1968)

2. NCERT , *Evaluating Practice Teaching* : P 1

3. Constructive concrete suggestions with examples which explain the situation or understanding or word or method or diagram or question etc in such a way that a certain mode of behaviour is adopted for future

References For Further Reading :

1. Allen, A Eric 'Professional training of teachers,' A Review of Research. *Journal of Educational Research* June, 1963
2. Boardman, C. W , Douglas, H R. & Bent, R K. '*Democratic Supervision in Secondary Schools*' New York : Houghton Mifflin Co. 1963
3. Bourai, H H A . 'A study into the Supervisors' Remarks' '*Teacher Education*' (Indian) Vol IX No (April, 1965)
4. Bowers, O N. 'Evaluating the Supervision of Student Teachers' '*The Journal of Teacher Education*' Vol No 4 (December, 1959)
5. Mukherjee, S N 'Supervision in Secondary Schools in India' *Educational Psychological Review* (Jan. 1960)
6. Symonds, P M 'Reflections on observations of teachers' *Journal of Educational Research* Vol 43 (May, 1950)
7. N C. E. R T Report of Seminars on Student Teaching & Evaluation Department 1968 (December 26, 1967 to January 7, 1968)

A Study of the factors affecting the Achievement of

B Ed Student-Teachers at the Final Examination

[illegible]

In Rajasthan the secondary-teacher-training institutions admit student teachers with multiple differences. In every batch, we find some student-teachers with postdegree qualifications and the others with only degree qualifications. Some student teachers have fifteen to twenty years of teaching experience before they join the B. Ed. courses while there are others who give their first lesson during the course of training itself, we find some student teachers who have hardly entered into adulthood, but there are others, who have all the experiences of adulthood. In this way the batch is heterogeneous in its true sense of the word.

Our secondary-teacher-training-institutions, unmindful of these diverse factors, provide one and the same course for all of them to be completed in a fixed period of nine months. The result is that most of the student-teachers secure only third class in theory and second class in practice. Only a small number is able to secure second class in theory and practice both. A far smaller number is able to secure second class in theory and first class in practice. A first class in theory is always conspicuous by its absence. Due to the existence of heterogeneity, in the secondary-teacher-training-college, the relationship between the various factors of heterogeneity on

...one side, and the performance of student-teachers at the final examination on the other side, is worth investigating. In this study, an attempt has been made in the same direction.

The study is based on 113 pupil-teachers of the session 1964-65 of Govt. Teachers' Training College, Ajmer. The various factors of heterogeneity, whose relationship were sought to be determined, are as follows :—

1. Difference in previous-teaching-experience,
2. Difference in qualifications,
3. Difference in previous training experience,
4. Difference in family-responsibility factor,
5. Difference in ages, and
6. Sex-difference factor.

1. Difference in previous-teaching-experience

In this batch, there are 27 fresh student-teachers who had no previous experience of teaching. There are 86 students who had previous experience of teaching varying from 1 to 2 yrs. to 19 to 20 years. The table No. 1 reveals this picture clearly :—

TABLE No. 1

No. of years of previous teaching experience	No. of student-teachers	Average Score in Theory Examination	Average Score in Practice Examination
Fresh, no experience	27	185.2	106.0
1—4 years	16	177.4	108 6
5—8 years	34	184.9	109.9
9—12 years	19	182 9	108.4
13—years and above	17	172 1	106.1

The following characteristics of the batch may be noted on the basis of Table No. 1 :—

1. The average score of the freshers in theory examination is the highest in the whole batch but it is the lowest in practice-examination.

2. Among the student-teachers who had previous experience of teaching, the average score of the student-teachers having 5-8 years teaching experience is the highest in theory, but in practice, their score is the highest in the whole batch.

3. The average score, in theory and practice both, goes do continuously as the number of years of teaching experience increas after the stage of 5 to 8 years.

4. The difference in the average scores of theory examinati between freshers and the student-teachers having 5-8 years teachi experience does not appear to be significant.

The above characteristics lead us to the following conclusions

1. The group of student-teachers having teaching experien of 5-8 years seems to be very suitable both from the point of vie of their achievement in theory and practice. They do not seem have developed the regidity of outlook which very experience teachers generally develop and seem to drive maximum benefit fro the training course.

2. The student-teachers, having a long experiences of teachin generally seem to develop a rigidity of outlook and thus seem t benefit less from the training programme as compared to othe student-teachers. After the stage of 5 to 8 years of teaching exper ence, there is an inverse relationship between the experience c teaching and the performance in theory and practice examinatior The more the experience, the lower is the performance.

3. The freshers generally perform better in theory but, due t the handicap of having no experience of teaching, their averag score in practice is the lowest. Even then, their performance ' practice is more or less at par with those student-teachers who h a long experience of teaching.

2. Difference in qualifications :

The first degree is the minimum qualification essential for a ssion to the B.Ed. course but a good number of student-teachers pos post degree qualification also. The same is evident from the table No.

TABLE No. 2

Qualification	Third Divisioners	Second Divisioners	Total	Average Score in Theory	Average Sco in Practice
DEGREE				III 173.02 / II 177.05	III 106.3 / II 109
No.	49	18	67	174.2	107.2
Percentage	43.4	15.9	59.3		
POST-DEGREE No.	45	1	46	192.9	109.1
Percentage	39.8	.9	40.7		

The table No. 2 brings ...
the batch :—

1. The ratio of the numbers of graduates and post-graduates is 3.2 approximately.

The average score of graduate-student-teachers in theory is significantly lower than the corresponding score of post-graduate-student-teachers but the difference is not so significant in practice.

3. Nearly 83% of the student teachers are third divisioners and among all the post-graduates only one student-teacher is a second divisioner.

These characteristics lead us to the following conclusions —

1. Post-graduate-student-teachers generally perform better than graduate-student-teachers at the final examination both in theory and practice. It may be due to higher level of academic maturity of post-graduate students and also due to greater amount of self-confidence generated by virtue of their superior qualification

2. The quality of the human material, seeking admission to secondary-teacher-training-colleges, is not satisfactory.

In the whole lot of 113 student-teachers, there is only one student-teacher having second class Master's Degree Only 16% of the student-teachers have second class Bachelor's Degree This state of affairs is very deplorable and it might be one of the causes that a first class in theory is rare phenomenon at the B Ed Examination

This conclusion is in consonance with the remark of the Education Commission which reads, "Secondary training institutions do not attract students holding good degrees (i e., first class or high second class in important subjects) in adequate numbers Even in best training institutions, they are less than 20 percent and in most institutions they form only a small minority."

3. Difference in previous training experience :

A good number of student teachers deputed by the Department of Education to the B. Ed. Course are S T.C. trained. Some other S T. C. trained teachers also get selected for the course in open competition. They become entitled to seek admission by virtue of

their having acquired Bachelors' or 'Masters' Degree as teacher candidates. Such teachers join B. Ed Course, mainly, to improve their economic status. Had there been adequate opportunities for further promotion in the field of primary education itself, they would have, perhaps, not joined the B. Ed. Course. The performance of S. T. C. trained student-teachers can be judged from the table No. 3

TABLE No. 3

	No. and percentage of the total	Average score in Theory	Average in Practice
S. T. C. Trained	31 27.4%	173.4	105.7
Remaining (without any previous training experience)	82 72.6%	183.9	109.2

The table No. 3 reveals the following characteristics of the batch :-

1 The ratio of the numbers of S. T. C. trained-student-teachers and others is 3 8 approximately.

2. The performance of S. T. C. trained-student-teachers is significantly lower than the performance of other student-teachers, both in theory and practice.

One reason of the poor performance of S. T. C. trained-student-teachers may be that the objective of S. T. C. Course is to prepare teachers for primary schools whereas the objective of the B.Ed. Course is to prepare teachers for secondary schools.

Another reason of the poor performance may be that the S T. C trained-student-teachers, generally, have to their credit the experience of teaching primary classes which is quite different in nature from the experience of teaching secondary classes. Thus their previous training and experience of teaching primay classes set a limit to their efforts to secure good marks.

4. Differnce in family responsibilities

The use of the words 'family responsibilities' is restricted here to mean the number of children one has to support. The assump-

1 Report of the Education Commission; Chapter IV, Teacher Education, Page78

...is that the more is the number of children in the family, the greater is the responsibility.

The batch is also very heterogeneous from the point of view of family responsibility. The table No. 4 will make the position clear.

Table No. 4

	Unmarried	Married but have no children	Married having two children or less	Married having more than two children
Number in each category	46	13	31	23
Average score in Theory	182.6	184 9	183 9	174 2
Average score in Practice	109.1	107.9	109 7	104.1

On the basis of table No. 4, we can find out that there is a difference of only one or two points in the average scores of unmarried, married having no children and married having two children or less. The average scores of the student-teachers who have more than two children are significantly lower than the rest.

Thus, we may safely conclude that there is no positive evidence to show that with the increase in family responsibilities, the average scores go down. But after the stage of having two children, the average scores show a downward tendency significantly.

5. Difference in ages

The batch is very heterogeneous from the point of view of age factor also. The table No. 5 reveals this kind of heterogeneity clearly.

Table No. 5

	Ages			
	20-24 yrs.	25-29 yrs.	30-34 yrs.	35-39 yrs
No.	35	30	39	9
Average performance in Theory	180.6	185 03	181.5	176 00
Average performance in Practice	106.7	109.3	108.3	108 5

The table No. 5 reveals the following characteristics of the group –

1 The average performance of the age group 25-29 years is the highest in the whole batch, both in theory and practice.

2. The average performance in theory is the lowest in the age group 35-39 years.

3. The average performance in practice is the lowest in the age group 20-24 years.

These characteristics may be interpreted in the following manner·—

1. There seems to be definite trend towards improvement in the average scores upto the age of 29 but after that the trend goes down. It may be said, on the evidence of this study, that the ages between 25-29 years seem to be very appropriate from the point of view of benefiting from the training programme.

2. Between the ages of 20-24 years the performance in practice is the lowest in the whole batch. It might be due to the reason that the student-teachers of this age group donot have much previous experience of teaching, whereas the student-teachers of the higher age groups, generally, have more and more teaching experience as the age factor increases.

6. Sex-difference Factor

In the batch under study, there are 74 male and 39 female student-teachers. Their respective performance may be noted from the table No 6.

TABLE No. 6

	No & %	Performance in Theory				Performance in Practice				
		II	III	Fail	Average score	I	II	III	Fail	Average score
Male Student-Teachers	74 65.5%	21 28 4%	49 66 2%	4 5 4%	178 4	7 9 5	67 90 5	×	×	106 0
Female Student-Teachers	39 34 5%	16 41%	22 56 4%	1 2 6%	188 0	9 23.1%	76.9%	—	—	111.9

The table No. 6 reveals the following characteristics :–

1. The ratio of the figures of male and female is 2:1 approximately.

2. The percentage of student teachers who have secured second [illegible] in theory is one and half times more than the percentage of male student-teachers on the same category, out of their respective lot.

3. The percentage of female student-teachers who have secured first class in practice is more than two times the Percentage of male teachers in the same category, out of their respective lot.

4. The average scores in theory and practice of female-student-teachers are significantly more than the respective scores of male-student-teachers.

The above characteristics may be interpreted in the following manner :—

[illegible] student-teachers may be [illegible] higher strata of society. [illegible] account, is not true to their population. This difference is likely to remain so long as the difference in literacy percentage of male and female population will continue to exist.

Having considered the relationship between various factors of heterogeneity on the one side and the performance of student-teachers on the other side, a few principles may be formulated, which may be adhered to while admitting students for the B.Ed course

1. Post graduate students should be given high priority over graduate-students and attempts should be made to attract second class post-degree holders in as greater number as possible.

[illegible] students, second class degree holders [illegible] no place for students who are [illegible] B. Ed course.

3. The ratio of the figures af male and female student teachers in the B Ed. course should be 1:1. At present, this ratio is 2.1 keeping in view the expansion of girls education, which will be very rapid in the next ten years, the ratio of 1.1 should be attained as early as possible.

4. The candidates of the age group of 25–29 should be given preference over others.

The table No. 5 reveals the following characteristics of the group –

1 The average performance of the age group 25-29 years is the highest in the whole batch, both in theory and practice.

2. The average performance in theory is the lowest in the ag group 35-39 years.

3. The average performance in practice is the lowest in t age group 20-24 years.

These characteristics may be interpreted in the follow. manner —

1. There seems to be definite trend towards improvemen the average scores upto the age of 29 but after that the trend . down. It may be said, on the evidence of this study, that the between 25-29 years seem to be very appropriate from the p of view of benefiting from the training programme.

2. Between the ages of 20-24 years the performance in pr is the lowest in the whole batch. It might be due to the r that the student-teachers of this age group donot have much pr experience of teaching, whereas the student-teachers of the age groups, generally, have more and more teaching experi the age factor increases.

6. Sex-difference Factor

In the batch under study, there are 74 male ar student-teachers. Their respective performance r from the table No 6.

TABLE No. 6

	No & %	Performance in Theory		
		II	III	I
Male Student-Teachers	74 65.5%	2		
Female Student-Teachers	39 34.5%	16 41%	5	

The table No 6 reve.

1. The ratio of the figu.

2. The percentage of student teachers who have secured second ... in theory is one and half times more than the percentage of male student-teachers on the same category, out of their respective lot.

3. The percentage of female student-teachers who have secured first class in practice is more than two times the Percentage of male teachers in the same category, out of their respective lot.

4. The average scores in theory and practice of female-student-teachers are significantly more than the respective scores of male-student-teachers.

The above characteristics may be interpreted in the following manner :—

Thus the sample of female-teachers, on this ... likely to remain so long as the their population. This difference is likely to remain so long as the difference in literacy percentage of male and female population will continue to exist.

... factors of

on the other side, a few principles may be adhered to while admitting students for the B.Ed course.

1. Post graduate students should be given high priority over graduate-students and attempts should be made to attract second class post-degree holders in as greater number as possible.

2. Next to post-graduate students, second class degree holders should be preferred. There should be no place for students who are merely third class degree holders in the B. Ed. course.

3. The ratio of the figures af male and f... ent teachers in the B Ed. course should be 1:1 At resen... 2:1 Keeping in view the expansion ... ry rapid in the next ten years ... as early as possible.

4. T... ould be given prefere...

professional record is of high order.[1] Mainly inservice teachers apply for admission to this course. For selection, age seniority, teaching experience are also pressed for consideration. The different Colleges have different basis of selection. The variation in policies and practices concerning selection of teachers are cause of some concern in light of the apparent pressure on teacher education institutions to conform and use selection process of some type. As stated earlier an underlying assumption appears to be that increased selectivity will lead to the development of better teachers. It is hard to defend such an assumption when criteria for selection are so diverse.[2] If the criteria for admission is evolved on the basis of actual performance of the person in M. Ed. Examination, it can uniformly serve the purpose of selection with confidence of good results. The present study relates to the performance of M. Ed's in Rajasthan, to evolve some bases for future selection to this course.

OBJECTIVES

1. To find out the relation between performance in M. Ed. and age, teaching experience, results of academic examinations and also results of B. Ed.

2. To evolve a suitable basis for selection of candidates to M. Ed. course.

PROCEDURE

As the number of M. Ed's along with their names and places of posting were not available, the questionnaire was sent to all the schools and educational offices in Rajasthan. The M. Ed. teachers and Head Masters were requested to fill in and send the questionnaire. The data from 293 M. Ed's were received. They are the persons who acquired post graduate degree in education from [illegible] to [illegible] and were serving in the Education Department at the time of sending the questionnaire i.e. May 1970. It was not possible to send the questionnaire to the persons retired upto Sept. [illegible] or persons who passed M. Ed. from one of the universities in Rajasthan and were serving outside. As the study for evolving basis for M. Ed. selection pertains to Colleges in Rajasthan, only persons of Rajasthan have been taken as sample.

1. [illegible]
2. [illegible]

The performance has been judged by the divisions or percentage of marks secured in the examinations. As all the post-graduates in education, are also post graduates in academic subjects, hence correlation between both the post-graduate degrees has been calculated

The teachers have been divided into three categeries according to their designations in the Department, (1) Head Masters of Secondary and Higher Secondary Schools, (2) Senior Teachers having post-graduate academic qualification and teaching Higher Secondary classes and (3) Assistant Teachers having post-graduate academic degrees and teaching Secondary classes.

Analysis and interpretation

Year, division and category-wise break-up of all the post-graduates in education is as follows .—

TABLE I

No. of post-graduates in education according to year and division.

Year	First Division				Second Division				Third Division				Grand Total
	Head Master	Senior Teacher	Asst Teacher	Total	Head Master	Senior Teacher	Asst. Teacher	Total	Head Master	Senior Teacher	Asst. Teacher	Total	
1950-'54	1	—	—	1	12	—	—	12	1	-	1	2	15
1955-'59	1	—	—	2	7	—	—	7	4	1	—	5	13
1960-'64	3	1	1	4	7	3	—	10	—	—	—	—	14
1965-'79	18	17	1	36	51	29	45	125	—	—	—	—	161
Grand Total	23	18	2	42	77	32	45	154	5	1	1	7	203

It is quite evident that the period from 1965 to 1969 has been the landmark in the history of post-graduate education in Rajasthan. In 1965, the Govt. of Rajasthan announced two advance increments to all the teachers and headmasters passing M. Ed. examination,

This incentive for higher education in the professional field was motivated by the desire of the Govermment to equip the personnel with higher knowledge to deal with the complex educational problems The teachers have always got higher grades by acquiring higher academic qualification. but for the first time in 1965, higher qualafication in education was recognised by the Govt. to be of benefit for the teaching profession.[3] Before 1965, mostly persons getting higher pay i. e. headmasters were attracted towards M. Ed. but after 1965, many senior teachers and assistant teachers began to join this course.

Number of persons joining M. Ed. after 1964

TABLE II

year	Head Master	Senior Teacher	Asst. Tercher	Total
1965	3	3	2	8
1966	15	6	2	23
1967	21	11	7	39
1968	16	13	12	41
1969	14	13	23	50
Total	69	46	46	161

If we analyse the year-wise trend it will be seen that the number of assistant teachers is rising steadily in comparision to others. The table I shows the number of persons who passed in first, second and third divisions, The percentage of first, second and third division holders category-wise is as follows—

3. But, unfortunately the incentive has been withdrawn from 1970

TAPIL III

Percentage of Teachers according to Division

	DIVISIONS I	II	III	Total
Head Master	2 2	73 3	4 7	100
Senior Teacher	3 5	63 0	2 0	100
Asst Teacher	2 1	96 0	1 9	100

The above table indicates that the performance of senior teachers was higher than headmasters. After 1959, third division is also absent. It seems that this division has been abolished thereafter and now only first and second divisions are awarded.

Age and Performance :

The course of mental capacity during the adult years has been the subject of many inquiries. Just as physical power does not reach its maximum as soon as a person reaches his full stature, so it is likely that full mental power is not reached at age twenty, when the nervous system seems to have reached its maximum growth. On the basis of research findings on mental capacity and adult learning, it can be stated, not too positively it is true, but with considerable confidence that mental power or capacity, probably reaches its maximum at about the age of thirty five or forty. A person does much and learns much in the period when he is a young adult, he [illegible] as a consequence of [illegible] urity [illegible] Ed

Table IV

Age group	DIVISONS I	II	III	Total
51-55	—	2	—	2
46-50	—	7	—	7
41-45	7	24	—	31
36-40	17	42	2	61
31-35	17	49	2	68
26-30	1	26	2	29
21-25	—	4	1	5
Total	42	154	7	203
Mean	36 72	36.26	32.08	36.29
S D	4 3	6 7	5.14	5.65

4. Sorenson : Psychology in Education, Mc Graw Hill Book Company, New York.

[illegible]

Performance in M. A. M. Sc. M. Com. and M.Ed. Examination

TABLE [illegible]

M. A./M.Sc./M.Ed./M.Com.	First	Sec.	Third	Total
First Division	—	1	—	1
Sec. Division	22	60	1	83
Third Division	20	93	6	119
Total	42	154	7	203

The above table reveals the relationship between performance in M.A./M.Sc./M.Com. Examination and M.Ed. Examination. By the rank difference method, the correlation (rho) comes to .50 which shows negative correlation between the performance in M.A. and M.Ed. Examination. Many persons who have shown lower achievement in M.A. achieved higher in M.Ed. and vice versa. This negative correlation is not high but moderate. The chisquare test of independence comes to 2.73 at df=4 at .05 level. It means there is some relationship between both the variables. The probability lies between .50 and .70 i.e. the relationship is between 30 to 50 chances out of 100. The negative relationship got by P coincides with chisquare result. The reasons of higher performance in M.Ed. in comparison to academic examination may be many. The persons might have reached to maturity more after passing M. A. The paper on dissertation might have increased the percentage or internal assessment would have played the part, which are absent in academic examinations. The point needs further research, but this is quite clear that third divisioners in M.A./M.Sc./M.Com. have amply gained in M.Ed. in comparison to second divisioners. This is the sufficient basis for not relying too much on divisions of M.A./M.Sc./M. Com. for selection to M. Ed. Course at east for these who are inservice teachers.

Performance in B. Ed. Examination—

In B.Ed., divisions are awarded in theory and practice of . practical work is done examination. Perform- as—

TABLE VI

Performance in B.Ed. (Theory) and M.Ed Exam.

B.Ed /M.Ed.	I	II	III	Total
I	2	4	—	6
II	28	72	2	102
III	12	78	5	95
Total	42	154	7	203

By the chisquare test, the test of independence is rejected at ·05 level as the value of chisquare comes to 7·68 at df=4 which is less than the table value at df=4 and 05 level Here the probability lies between ·20 and 10. The calculated value of Pis ·50 which shows moderate positive relation between B. Ed. and M. Ed. results. It can be concluded that higher the achievement in B Ed, moderately shows the higher achievement in M Ed.

Teaching Experience :

Experience is much more wider term having qualitative and quantitative aspects but we generally define it only to the number of years. A man may have repeated one rience twenty times and another may have done a jo ery year but has put in only five years service. standard we prefer the person who has ugh he might have repeated only ng five years' service, with vari the qulity of experience g table shows the re e in M Ed.

Exa

A Comparative Study of
Teachers Associations in

Rajasthan and the Neighbouring States

Dr. Shyam Lal Kaushik

Historical Background

In India teaching used to be largely a mission in the good old days. The design of earning a living out of it was very remote, if at all, with the celebrated 'gurus' of yore. But it grew by and by into a profession and with it the question of safe-guarding the interests of its practioners having certain norms of their behaviour and the question of their social prestige came before it also like any other profession. Hence the professional organizations of teachers came into existence.

In India their existence can be traced back to the close of Nineteenth century. "The pioneer in the direction appears to be the Women Teachers Association found in Madras in 1890 followed by the Madras Teachers Guild (an organization for both male and female teachers) after five years. The South India Teachers Union (The S. I. T. U.) came into existence in 1909 and Non-gazetted Educational Officers Association (the N. G. E. O. A.) of U. P. in 1920. In 1921 were founded the U. P. Secondary Education Association (now known as the U. P. Madhyamik Shikshak Sangh) and the U. P. Adhyapak Mandal. By 1924 the movement spread over

other provinces also leading to the establishment of such associations in Bihar, Orissa, C. P., Bombay and Baroda. All these were organizations functioning at the local, regional or provincial levels. The Late Shri D. P. Khattry of Kanpur felt the need of bringing together teachers of all grades on one national platform. He alongwith the Late Shri P. Sheshadri did pioneering work in the direction and was successful in founding a national organization known as the All India Federation of Teachers Associations at Kanpur in 1925. In 1933 it was renamed as the All India Federation of Educational Associations (the A. I. F. E. A.) and has been functioning as such since then. The first teachers organizations in the Punjab, Delhi and Rajasthan were formed in 1936, 1943 and 1952 respectively. The number continues to grow. In the Fifties and Sixties of the present century many more organizations saw the light of the day including three more all India organizations viz. the All India Federation of Primary Teachers (1954), the All India Federation of Secondary Teachers (1961) and the All India University and College Teachers Federation (1961). And now the number runs into hundreds, every state having separate organizations for different categories of teachers and also rival ones in many cases.

Need and Importance of the Study .

Teaching is unlike many other professions. Its services far transcend the present. Much of the future is in teachers' hands. They engage themselves in long range planning and have to plant men so to say. But in India teachers performance continues to be far from satisfactory, a cause for anxiety. The situation is especially alarming because the things seem to have steadily gone from bad to worse during the twenty five years of independence. The social prestige of teachers is at such a low ebb that quite a few of them shun to be called teachers.

Professional organizations of teachers can play a vital role in redeeming the situation and help rehabilitate the teacher. It is being increasingly realized that they can make valuable contributions in formulating educational policies and programmes and also in promoting professional growth of teachers as they are doing in countries like U.K., U.S.A., U.S.S.R.

Though it is quite a few years now of the existence of teachers organizations (as mentioned in the historical back ground) these organizations which may have far-reaching effects not upon the teachers professional status and outlook alone but also on

educational planning as such, no scientific study has so far been undertakan in the direction. To know what have been their achievements in the academic and economic betterment of teachers, towar building up a status for the teaching profession and also their impac if any, upon the formulation of educational policies and programme in their respective areas was the subject of the present study. Th study is likely to help locate factors responsible for the smoot running or otherwise of the teachers organizations and establishe the factors that can contribute to the formation of more effectiv teachers organizations.

Delimitations of the Study :—

The project was limited to the study of programmes of work policies, practices and trends of the following state teachers organizations.

1. Rajasthan Shikshak Sangh.
2. Punjab Government Teachers Union.
3. Punjab State Recognized School Teachers Union.
4. Delhi School Teachers Association and
5. U. P. Madhyamik Shikshak Sangh.

As it is clear from the names themselves only associations looking after the interests in general of the school (primary and secondary) teachers were taken for the study. Since the U P. Madyamik Shikshak Sangh caters to the needs of secondary school teachers alone, the study has been limited to them in this case. Besides University teachers associations functioning in these states, the associations catering to the academic needs of various subject teachers etc. were also excluded.

Research Procedure adopted

1. The relevant published and unpublished literature available in the form of reports of conferences, resolutions, minutes of meetings and other supplementary records was gone through.
2. Information was gathered from the offices of the associations under study with the help of a data-gathering questionnaire.
3. Present and past leading members of these associations were interviwed.
4. A few of them were contacted through correspondence also.
5. Conferences and other meets of these associations were attended by the investigator.

ain findings.

1. A look at the aims and objectives laid down by the teachers associations under study, in their constitutions showed that they aimed at both the economic and academic betterment of teachers and also wanted to contribute to the educational plans of their respective states. But in actual practice they have been concentrating on the economic betterment of teachers alone, and there is no evidence of any significant contribution on their part in the other two spheres. The earlier teachers associations emphasized the academic aspect more than the teachers welfare but later on owing to economic stress they were compelled to pay more attention to the latter. The S I T U however, is one teachers organization in India which has been making significant contribution to the improvement of education, but not without being blamed by certain sections of its members for neglecting the economic betterment of teachers

2. If on the one hand the story of teachers associations in India is the story of shifting emphasis from the academic to the economic aspect, it is on the other hand a story of steadily drifting from milder pressure techniques like petitions, representations, lobbying etc to the stronger agitational ones like cease work, chalk down strikes, picketings, protest marches, protests fasts, gheraos and threats of self immolation. And the many successes of these weapons have convinced teachers (as other occupational groups) of their (the strong agitational activities) efficacy

3. Though of late there is in evidence a tendency amongst the teachers associations under study to seek help from political parties in getting their demands met, none of them favours alignment with the latter explicitly. The individual members are however, free to join political parties of their choice, if they like. But since the Government servants are not allowed, as per service rules, to join political parties, the members of the Punjab Government Teachers Union and the bulk of the members of Rajasthan Shikshak Sangh cannot avail of this freedom.

4. These organizations are not in favour of identifying themselves with labour unions (the All Bengal Teachers Association and a group of the Punjab teachers are the notable exceptions in India) firstly, because they regard teachers a different class of workers from the common labour class and secondly, because the labour trade unions in India are by and large in the hands of one or the other political party and the teacher-leaders apprehend that with such an

[illegible] satisfactory arrangement of office equipment. The provision of any [illegible] paid staff is simply non existent.

11. In the matter of communications—both external and intern[al] they continue to be very poor. The public at large tends to rega[rd] them groups interested only in their bread and butter while th[e] members are very often uninformed of the policies of the leaders.

Suggestions

1. Since in a democratic country it is the general public in th[e] last analysis, that can exert the real political pressure, it is in th[e] interests of the teachers organizations that they try to win publi[c] opinion in their favour. They should convince the influential member[s] of the public that whatever they are doing is not for their ow[n] gains alone, but for the larger objectives of better education. It i[s] therefore a must for the Indian teachers associations to take u[p] programmes of mass contact and also publicity through press an[d] other communications media.

The teachers organizations may impress upon the editors o[f] some popular newspapers and journals to allot one or even a half column to education. The teachers organizations may use this column for presenting their case also of course not in an exclusive way but as a part of comprehensive discussion on educational matters.

4. The teachers organizations should improve their financial position by increasing membership fee, by organising membership campaigns and also by trying to think of some other sources of income just as the establishment of printing presses, undertaking the publication of books examination papers etc as Bihar Shikshak Sangh has been doing It hardly need be added here that-improved financial position will go a long way in establishing a well-equipped secretariat, in streamlining the internal and external communication, and thus boosting up the morale of the teachers and their faith in the organization to which they would like to enrol themselves as members more readily and in ever-increasing number--thus in turn strengthening the financial position of the organization all the more.

5. It is the duty of the teachers organizations to protect the rights of their members, but it is also their responsibility to expose the defaulters which they should not shirk The Indian teachers associations should formulate codes of professional ethics for their members and then enforce them with firm determination. Such a step though may result in initial losses of membership to the organization, may even result in the formation of parallel organizations but will surely prove to be of great help in strengthening the organization in the long run.

6. As recommended by the Education Commission (1964-66) joint teachers councils consisting of representative of teachers organizations and the Education Departments should be established in each State and Union Territory in India, to deal with all matters relating to conditions of service and work, welfare services for teachers of all categories, and general programmes for the improvement of education. These councils should work as advisory bodies, but there should be a convention that subject to final authority of the State Cabinet, agreements reached at the council shall become operative With such an arrangment, it may well be expected that the present distrust between the teachers and the governments will go resulting on the one hand in minimizing the use of agitational tactics by the teachers organizations and in improving the educational standards on the other.

A Research Report

Personality Projections in Free-Expression Paintings

C. B. Mathur

In all ages man has tried to understand man but curiously the more he tried, the more his personality eluded him. It is perhaps why that no precise, clear and specific definition of personality has so far been advanced. Efforts like those of Allport resulted merely in elusive phraseologies like 'personality is all that a man is.'[1]

The author therefore changed his approach in understanding the phenomenon. A view which looked meaningful enough was to see personality as a phenomenon understandable in three well defined aspects: the 'looking at', the 'thinking' and, the consequent 'acting'; and valid reason to adopt this approach lay in the fact that nothing will ever yield to any measurement or assessment unless it gets manifested in one way or the other.

The most universal way of manifesting one's personality is perhaps the way of the cave dweller, who left clear imprints of his personality on the cave wall in which he dwelt thousands of years ago. Since then, man has unconsciously developed a language, international in character, universal in use and unaffected by lapses of time and geographical boundaries. This language is the language of lines, of strokes, of colour, of effect which the drawings using lines and strokes produce.

The child knows this language.

The adult has yet to know it in order to communicate with and understand the child.

The present author attempted to evolve a way to understand this language of the child and subsequently to understand the child himself.

I. Objectives of the Study

Looking at the recent trends in the use of projective techniques for personality assessment of normal individuals, and also, the role of the average class room teacher in understandnig his children, the author kept the following Objectives in view:

(1) To develop a usable projective tool for the prediction of certain personality traits of school going children.

(2) To explore the possibility of using free expression paintings of children as predicators of their personality.

To achieve these objectives, the specific task before him was to:

(1) Locate the essential minimum of painting components, and groups of components, to be examined for the purpose of such predictions.

(2) Find out if any relationship exists between these components, or groups of components, and certain personality traits, and thus.

(3) To study how far one's rendering technique including the theme of painting, choice and application of colour, brush strokes, and other components of painting, can be used to understand the child artists' personality.

II. The Sample :

The overall sample of students involved in the study consisted of students of 13+, and was drawn from representative schools and districts of Rajasthan. The distribution according to their sex and level of intelligence was the following :

	Bright	Average	Below Average	Total
No. of students	55	49	53	157
No. of boys	35	25	26	86
No. of girls	20	24	27	71

Each of the students was supplied with ten drawing sheets (17 cms.×22 cms.) one painting brush and three colours–the (lemon yellow, the scarlet red, and the prussian blue)

Uninfluenced by teachers, peers or even the investigator, each student was to paint ten paintings with the given art material. They were specifically asked to paint whatever they felt like painting Depending upon circumstances lesser number of paintings had to be accepted from some of the students, making the overall sample of paintings 1552.

III. Tools and Techniques :

The study finally acquired characteristics of an analytical, experimental and case study in view of the close examination of all students and their art products; the control exercised over the art material, the quality and quantity of paintings, the environment provided as conditions of work; and in treating the individual student, the various groups of students, the individual painting and groups of paintings as separate cases

The standardised tools used for the various purposes were the following :

(i) Jalota's Mansik yogyata pariksha (a verbal tool) and Raven's progressive Matrices (a non-Verbal tool) for screening the students and classifying them according to their levels of intelligence.

(ii) Thematic apperception test, adapted for Indian conditions by The Bureau of Psychology, Allahabad, a projective tool for personality assessment, and also to serve as an external criteria for validation.

The child knows this language.

The adult has yet to know it in order to communicate wit
understand the child.

The present author attempted to evolve a way to under
this language of the child and subsequently to understand the
himself.

I. Objectives of the Study

Looking at the recent trends in the use of projective te
ques for personality assessment of normal individuals, and also
role of the average class room teacher in understanding his chi
the author kept the following Objectives in view :

(1) To develop a usable projective tool for the predictio
certain personality traits of school going children.

(2) To explore the possibility of using free expression pai
of children as predicators of their personality.

Animal Figures :—

Animal figures also were examined in the light of themes, form movement and verbalisations. If animal figures predominated in set, they could be taken as indicative of lack *of positive assertion instinctive drives*, conflict within immediate social dealings, presence of dominating needs like reassurance, affection, hunger, sex etc. They also became indicative of the student's attitudes and personal needs.

Inanimate Objects :

If inanimate objects appeared in a considerable number in any set, they could be taken almost *decidedly as indicators of a level of* intelligence which is not above average. They also showed unilateral *interests* in material things. Unrelated objects however, could be taken as indicative of utility minded, dull, unimaginative, emotionally blocked, and of persons, with perhaps no high ambitions.

Carelessly executed inanimate object drawings indicated below average intelligence, unproductive, indifferent individuals with deficient emotionality. Anxiety could also be interpreted if confirmed by other indicators. Carefully executed inanimate object drawings were found indicative of regression, artificiality and infatuation. In case they were set in a meaningful situation they could be taken as indicative of occupational leanings. Unconnected objects however, decidedly indicated below average intelligence and deficiency in communication.

Inanimate objects with dimension effect, bold colours and motion, could be interpreted as indicative of mechanical orientation, cravings, and above average intelligence

Scenery :

All scenic compositions had to be examined for execution, theme, and effect and could be generally taken as indicative of emotional sensibility, nature of interest in the matter-of-fact world, contemplation, and, the nature of conscience.

Poorly executed, stereo-typed and routine type scenery was found to be indicative of a below average, or at the most of an average intellectual level, uncommunicative individuals, and those, who did not have any inclination to communicate at an understandable level.

If in a set only one or two scenes were carefully painted but others were left unfinished, they were found indicative of an escape from reality, low ambitions, and, attitude of resignation But in case scenes showed perspective and vast expanses they were found to be indicative of repressed and unconscious longings. Scenic composition with unhealthy themes of violence, killing, explosions, storms etc. were found to be indicative of pessimistic attitude, feelings of neglect, apprehension of misfortune, unassertion, unconscious hostility and also a helplessness in the face of challenging situations.

Geometric Designs :

Geometric designs were examined for execution and their number in a set. Five or more designs in a set indicated towards evasiveness, suppression and emotional inhibition Nicely executed geometrical forms with symmetry, showed orderliness and compulsive trends; while poor execution was found to be indicative of a disorderly individual with no high ambitions.

The designs also occured as maps, blue-prints and diagrams. In case they were carefully executed, they were found to be indicative of decorative trends and compulsivity. But in case of poor form they acted as signs of emotional inhibition and strong suppression

Abstracts :

All Abstract paintings were examined in the light of the themes verbalised. Even one or two abstracts in a set of ten assumed importance as indicative of a well above average intellectual level A casual treatment of abstracts, accompanied with no meaningful verbalisation was found to be indicative of an indifferent and not caring-for-others type of individual.

Abstracts with definite themes could be interpreted to show the students attitude towards life and identified characters In the light of confirmation by other indicators they could be taken as indicative of confidence, obstinacy, unaggressiveness, sophistication and overestimation of one's adequacies.

Silhouettes :

Like Abstracts, Silhouettes were also not very frequent, but they were examined for the presence of a back ground and represented themes. They were found to be [illegible] indicative of [illegible] ment. Silhouettes with painted back ground could be [illegible]

[illegible] and [illegible] adjustment.

If [illegible] [illegible]

Array of lines

[illegible] Arrays of Lines were found to [illegible] and distorted [illegible] But in case Arrays of Lines were [illegible] forms and [illegible] figures, they (if interpreted in the light of verbalisation) were found to be reliable indicators of maladjustment, contemptuousness, temper tantrums, unmanaged aggression, rivalry and hostility.

Perspective

Achievement of perspective effect in any painting could be taken as an indicator of above average intelligence, planning, striving for social adjustment, and care in social dealings.

Dimension effect :

If the observed dimension effect was not due to an effect of training, it could be interpreted for attitudes and above average intellectual level.

Flatness :

Flatness was found associated with below average intelligence, unproductiveness, indifference, emotional flatness, and, uncommunicativeness.

Use of Painting Space :

If whole of the painting space was utilised by themes requiring use of a comparatively small space, they were found indicative of high ambitions, amounting to day-dreaming, curiosity, and in cases, insufficient striving. But if whole space was used meaningfully, it showed adjustment, and a balance between intellect and emotions. Use of only a small part of the painting space showed clear indications of intellectual and emotional blockage, constriction, lack of ambitions and shyness.

Compartmentalisation :

Compartmentalisation of space to accommodate more than one figure was characteristic of students having lack of emotional affectivity, awareness of intellectual potentiality and/or tries to show oneself off.

Placement :

Correctly organized and well executed paintings could in general be taken as indicative of a balance and mental poise.

Placing of identified figures at the edges were sure signs of evasiveness, withdrawn and unassertive nature.

Centrally placed identified figures, (depending upon their nature) could be interpreted for assertion, imposition and non aggressiveness. But if such figures were carefully executed, they afforded sure signs of dominative, vigourous, and those individuals who had strong wish to excel.

If a balance was achieved through conscious addition of figures it could be interpreted to show the students' organisational capacities, adequacy to face situations, and, social adjustment But balancing through simple strokes and typical application of colour was found to be unmistakble sign of productivity, high intellectual level, and originality. Realistic appraisal however, could be assumed in both the cases

Angles of Placement :

Correct Angles of Placement of all types of figures could be taken as a reliable indicator of realistic perception, good motor control and realistic approach to social situations But on the contray Incorrect Angular Placement indicated *hostility*, internal and emotional stresses, unnamed anxieties and guilt feelings.

Colour :

This component was examined for coherency, and preparation of new mixtures and application.

If colour choices were random, they showed external conflicts, feelings of *rejection* and neglect, n reassurance, n affection and n dependence Random monochrome however, was indicative of a lack of positive assertion, lack of confidence, unconscious hostility.

and inadequacy to realise ambitions. But, if the desired effect was achieved with single colour, it was found to be a sure sign of very well above average level of intelligence, and an emotional control, but could also indicate possibilities of repression.

Incoherence in the use of multicolour showed definitely a below average level of intelligence, but if the desired effect was produced it became indicative of non-aggressive and persuasive individuals.

A lavish use of many colours decidedly became indicative of imaginative individuals with emotionally tinged reality contact, unsatiated needs, and perhaps, or loose Super Ego.

Only students with average level of intelligence and emotional productivity could prepare and use suitable colour mixtures. Random application of colours and mixtures however, indicated impulsivity, shabbiness, and loose unsystematic habits of work.

If random colours and mixtures were used for decorative purpose they indicated n.reassurance, striving for social recognition and definite narcissistic trends.

Overlappings :

Purely decorative overlappings were found to be indicative of compulsivity, n-exhibitionism, n social recognition, and enthusiasm at task performance. But overlappings for mutilation was found to be an almost sure sign of antagonistic and hostile trends, deprivation in love and economic affairs and feelings of rejection.

Overlappings for correction however, denoted compulsivity, orderliness, as well as guilt feelings.

Application of Colour ·

Thick coats of colour could be generally interpreted for carelessness about future, raw and crude driving force, aggressivity and lack of rational control But in case 'bright students did it, thick coats were found to be sure signs of strong will, domination and determination. Use of thick colour by average students showed them to be quarrelsome, domineering, antagonistic and guilt ridden individuals.

Use of thick paints by students of comparatively lower level of intelligence afforded additional evidence of crude, aggressively inclined and irresponsible individuals.

In the light of themes and other indicators, the use of 'thin' and watery colours be taken as indicative of individuals with not very high ambitions, hesitancy, reluctance and awareness of inadequacy.

Location of Colour:

This particular component assumed significanse in the light of theme and character of figure coloured. Application of colour in unidentified figures indicated towards individuals with indifferent attitudes and irresponsibility. The opposite of it however, became indicative of self assertive and imposing individuals. Coloured self portraits were definite indicators of self-centred and self-assertive individuals.

In case colour was applied only to face, it was found indicative of narcissistic tendencies, superiority and perhaps leadership traits. These meanings should be applied with the caution that opposite meanings could also be ascribed in some cases If garments alone were found coloured (typically in case of girls) it was found to be indicative of decorative tastes, authority acceptance, and growth and look consciousness.

C—F : (Means-Comparatively greater Importance of colour over Form)

C—F Could be taken as confirmatory evidence of deficient control, emotionality, impulsivity temper tantrums, sudden elations and depressions, and of emotional reaction to social situations.

F—C : (Means-Comparatively greater Importance of Form over Colour)

F—C afforded confirmatory evidence of hesitency *in action*, feeling of insecurity and inadequacy, inferiority, seclusiveness, inhibitions, and strong Super-Ego.

Style: Style included content, rendering technique, theme and the over all effect. Only three catregories namely Creative, Stereo-typed and Decorative were considered

Crative :

In case of a predominance of Creative Style, above average intelligence, imaginativeness, and practicality, self-satisfaction and determination could be assumed.

2. Justification for the Study :

The Board of Secondary Education, Rajasthan, in collaboration with the NCERT (Previously Depse), launched examination reforms in the subjects in a phased manner. In Hindi compulsory, it did so in 1963.

Under the scheme of examination reforms, the State Boards of Secondary Education also required to take steps for organizing research studies in problems related to evaluation and curriculum construction. Accordingly, the Board of Secondary Education Rajasthan, prepared a list of Problems to be studied. The present problem— "The Effects of Board's New Type Question Papers on the Teaching of Hindi" was among them.

The study was expected to provide specific data as would reveal the status of Hindi Teaching in Schools. It would also lead to draw such conclusions as would help to improve Hindi Teaching in Secondary Schools. It would help to clarify certain confusions prevalent in Hindi teaching, viz., determination of teaching objectives in terms of specific behavioural changes, relevancy of universally adopted teaching procedures, confusion of objective-based teaching with that of Herbartian-step-planning, attitude of teachers towards progressive techniques of teaching, attempts of teachers to inculcate appropriate [illegible] and attitude towards language learning in the pupils etc. It would also provide specific data to understand the degree of va[illegible] among the teachers as regards the concept and use obj[illegible] based teaching in their day to day teaching. It would p[illegible] the data to reveal the extent and nature of changes brought [illegible] the preparation and presentation of text-book exercises in Hindi.

3. Statement of the Problem :

The Problem of the study was ,

"The Effects of Rajasthan Board's New Type Question Papers on the Teaching of Compulsory Hindi at Secondary Level"

4. Delimitations .

The [illegible]

2. Justification for the Study :

The Board of Secondary Education, Rajasthan, in collaboration with the NCERT (Previously Depse), launched examination reforms in the subjects in a phased manner. In Hindi compulsory, it did so in 1963.

Under the scheme of examination reforms, the State Boards of Secondary Education also required to take steps for organizing research studies in problems related to evaluation and curriculum construction. Accordingly, the Board of Secondary Education Rajasthan, prepared a list of Problems to be studied. The present problem— "The Effects of Board's New Type Question Papers on the Teaching of Hindi" was among them.

The study was expected to provide specific data as would reveal the status of Hindi Teaching in Schools. It would also lead to draw such conclusions as would help to improve Hindi Teaching in Secondary Schools. It would help to clarify certain confusions prevalent in Hindi teaching, viz., determination of teaching objectives in terms of linguistic behavioural changes, relevancy of universally adopted teaching procedures, confusion of objective-based teaching with that of Herbartian-step-planning, attitude of teachers towards progressive techniques of teaching, attempts of teachers to inculcate appropriate interest and attitude towards language learning in the pupils etc. It would also provide specific data to understand the degree of variation among the teachers as regards the concept and use objective-based teaching in their day to day teaching. It would provide specific data to reveal the extent and nature of changes brought about in the preparation and presentation of text-book-exercises in Hindi.

3. Statement of the Problem :

The Problem of the study was :

"The Effects of Rajasthan Board's New Type Question Papers on the Teaching of Compulsory Hindi at Secondary Level."

4 Delimitations :

The study is limited to only three areas pertaining to the teaching of Compulsory Hindi in Secondary Schools in Rajasthan. The three areas are :—

i) Objectives of teaching Compulsory Hindi,

ii) Exercises in the Text-Books for intensive study and

iii) The concept of objective-based class-room teaching as understood by Hindi teachers.

(i) For the purpose of study with regard to 'Objectives' 'content analysis' is limited to 'six selected text-books' on methodology and 'the list of objectives' of teaching Hindi, published by the Board of Secondary Education, Rajasthan.

(ii) In respect of Text-Book Exercisee, the 'content analysis' is limited to 'three Text-Books' taught in Secondary Classes in succession-one, before 1967, and two, after 1967; out of which one lies in the Pre-NTQP period and the other two in the Post-NTQP period.

(iii) For the study of Teachers' understanding, the teachers working in Secondary and Higher Secondary Schools of Bikaner City have been selected as the sample. This sample includes Trained post graduate teachers, male and female teachers oriented and unoriented teachers; and teachers of Government as well as private schools.

(iv) Another sample (of Hindi Experts) includes persons who are connected with the Board's orientation programme, i. e. Lecturers of Teachers' Training Colleges, Lecturers of academic Colleges connected with Board's works; research workers of the Hindi cell of State Institute of Education; Evaluation Officers of Evaluation unit of Rajasthan Education Department and the Experts from Evaluation Unit of the N. C. E R. T.

5. Objectives :

The objectives of the present research study are :—

(1) To study, if the introduction of NTQP has led the objectives of teaching Hindi to be defined more precisely and specifically than they were in the Pre-NTQP period.

(2) To study, if the introduction of NTQP has brougt about any change in the preparation of exercises in the related Text-Book meant for intensive reading at the secondary level, so far as Hindi (Compulsory) is concerned.

(3) To study, if the introduction of NTQP has motivated and induced the compulsory Hindi teachers to adopt the more defined and scientifically enlightened procedures of classroom teaching, duly governed by the concept of objective-based teaching and evaluation, as the basic ingredient of all teaching and any teaching.

PLAN, PROCEDURE & TECHNIQUES

The study is a normative survey research It has employed the methods of (i) Content Analysis (ii) Survey Testing and (iii) Questionnaire, for purpose of collecting data

1. Objectives of teaching Hindi :

For the first aspect, 6 selected text books on Hindi methodology[1] were analysed 'Statements of Objectives' made therein, were sorted out verbatim. They were further analysed and categorized under different groups according to the 'basis' on which they are stated and 'the nature' of all inclusiveness or the otherwise embibed in them. The 'statements' contained in the 'list of objectives' produced by the Board of Secondary Education, Rajasthan were also similarly analysed and categorized

This 'content analysis' was supplemented by question Nos. 1, 2, & 3 contained in the questionnaire, in order to find out whether the teachers in the field have developed necessary skills to interpret the changes made in the 'Statements of objectives.'

The data thus collected, was interpreted to yield some important conclusions.

2. Text Book Exercises :

For the second aspect, one Pre-NTQP Text-Book and two Post-NTQP Text-Books were analysed[2]

1 (a) Hindi Shikshan by Mrs Savitri Singh, (b) Matri Bhasha Shikshan by Miss K Khatriya, (c) Hindi Shikshan by Rajni Kant Lehri, (d) Hindi Shikshan by Raman Biharilal, (e) Hindi Shikshan by Raghunath Safaya, (f) Hindi Shikshan by Singhal & Bhardwaj

2 (a) Pre-NTQP :—Hindi Gadya Padya Samgraha : Bhandari & Singhvi : 1964, (b) Post-NTQP :—(i) Abhinav Gadya Padya Samgraha : Bhandari and Singhvi : 1967 (ii) Madhyamik Gadya Padya Samgraha . Vajpeyee and Tiwari ; 1970.

i) Objectives of teaching Compulsory Hindi,

ii) Exercises in the Text-Books for intensive study and

iii) The concept of objective-based class-room teaching understood by Hindi teachers.

(i) For the purpose of study with regard to 'Objectives' 'content analysis' is limited to 'six selected text books' on methodology and 'the list of objectives' of teaching Hindi, published by the Board of Secondary Education, Rajasthan.

(ii) In respect of Text-Book Exercises, the 'content analysis' is limited to three Text-Books' taught in Secondary Classes in succession one, before 1967, and two, after 1967; out of which one lies in the Pre-NTQP period and the other two in the Post-NTQP period.

(iii) For the study of Teachers' understanding, the teachers working in Secondary and Higher Secondary Schools of Bikaner City have been selected as the sample. This sample includes Trained post graduate teachers, male and female teachers, oriented and unoriented teachers, and teachers of Government as well as private schools.

(iv) Another sample (of Hindi Experts) includes persons who are connected with the Board's orientation programme, i. e. Lecturers of Teachers' Training Colleges, Lecturers of academic Colleges connected with Board's works, research workers of the Hindi cell of State Institute of Education; Evaluation Officers of Evaluation unit of Rajasthan Education Department and the Experts from Evaluation Unit of the N. C. E. R. T.

5. Objectives :

The objectives of the present research study are :—

(1) To study, if the introduction of NTQP has led the objectives of teaching Hindi to be defined more precisely and specifically than they were in the Pre-NTQP period.

(2) To study, if the introduction of NTQP has brougt about any change in the preparation of exercises in the related Text-Book meant for intensive reading at the secondary level, so far as Hindi (Compulsory) is concerned.

(3) To study, if the introduction of NTQP has motivated and induced the compulsory Hindi teachers to adopt the more defined and scientifically enlightened procedures of class-room teaching, duly governed by the concept of objective-based teaching and evaluation, as the basic ingredient of all teaching and any teaching.

PLAN, PROCEDURE & TECHNIQUES

The study is a normative survey research. It has employed the methods of (i) Content Analysis (ii) Survey Testing and (iii) Questionnaire, for purpose of collecting data.

1. Objectives of teaching Hindi :

For the first aspect, 6 selected text-books on Hindi methodology[1] were analysed 'Statements of Objectives' made therein, were sorted out verbatim. They were further analysed and categorized under different groups according to the 'basis' on which they are stated and 'the nature' of all inclusiveness or the otherwise embibed in them. The 'statements' contained in the 'list of objectives' produced by the Board of Secondary Education, Rajasthan were also similarly analysed and categorized.

This 'content analysis' was supplemented by question Nos. 1, 2, & 3 contained in the questionnaire, in order to find out whether the teachers in the field have developed necessary skills to interpret the changes made in the 'Statements of objectives.'

The data thus collected, was interpreted to yield some important conclusions.

2. Text Book Exercises :

For the second aspect, one Pre-NTQP Text-Book and two Post-NTQP Text-Books were analysed[2]

1 [illegible]

2 (a) Pre-NTQP :—Hindi Gadya Padya Samgraha · Bhandari & Singhvi : 1964. (b) Post-NTQP :—(i) Abhinav Gadya Padya Samgraha : Bhandari and Singhvi : 1967 (ii) Madhyamik Gadya Padya Samgraha : Vajpeyee and Tiwari : 1970.

The exercises contained in them were, each of them, classified on two-dimensional scale, viz.,

(i) The objectives which are fulfilled by the exercises &

(ii) The types of questions which are covered by these exercises.[1]

This primary classification was followed by multiple tabulation in order to find out the—

(a) number of exercises in each book,

(b) number of exercises in each book as per prose and poetry section,

(c) number of exercises in each book for each objective,

(d) number of exercises in each book for each type of question.

This was further computed for interpretation, to locate changes occured in sucessive books.

The content-analysis was further supplemented by question No. 4 (ग) in the questionnaire which aimed to find out, whether the teacher in the field have developed adequate consciousness to make use of text-book exercises in their day-to-dayteaching programme.

3. Concept of Objective-based teaching ·

For the third aspect, a 'testing tool' was prepared and developed, after one try-out.

The tool consisted of: (i) A piece of prose-text from the current Text-Book[2] for which the teachers were required to prepare a "Teaching pragramme"; (ii) a guidenote which high-lighted the 'fromat' prescribed for writing down the teaching programme and (iii) the list of objectives published by the Board for guidance of the teachers in schools

The test was administered on the Hindi teachers through personal approach. The Experts were served with the tool through mail.

1. 15 'Objectives' and 10 'types of questions' were found to be covered by them.
2. Madhyamik Gadya Padya Samgraha : Vajpeyee & Tiwari : 1970.

The tool was followed with a mixed form of questionnaire hich contained such questions as were aimed to furnish data garding the attitude of the Teachers and the Experts towards bjective-based teaching.

The responses related to the teaching programme were lassified in order to yield consolidated teaching programme for arious specifiations forwarded by the teachers and the experts.

The results accrued from the responses of the T group[1] were compared with those of the E group,[2] which for the purpose of this study, was serving as the norm-group.

FINDINGS

I. Effects on the Objectives.

1. The analysis of statement of objectives contained in the 7 selected sources, revealed a list of 648 statements, all differing from one another even in situations where they were stating the goals or objectives for the same aspect of teaching. Similarity was found only in two books

2. When the statements were compared, it was found that they happened to coincide only to an extent of 2.4 p. c. It means that the statements of objectives for teaching of Hindi, tend to differ from one another to an extent of 97.6 p. c.

3. Analysis of 5 Pre-NTQP books on 'teaching of Hindi' revealed that 'Forms of Literature', 'Language Teaching Methodology', 'Linguistic performances', and 'Language Teaching as a whole', were being employed as the bases for formulation of objectives, while the Post-NTQP Books numbering two, completely ignored all other bases except that of 'Linguistic Performances'.

4. Pre NTQP 'Statements' of Objectives contained many things intermingled with one-another, viz., more than one objectives, content of teaching, ability to be developed etc, but the introduction of the NTQP made these statements much more specific and concise

5. The Pre NTQP sources employed 4 different bases for formulation of objectives but even then the list was not comprehensive,

---

1 Teachers. 2. Experts.

ccured in ... 21 p.c. of teachers experience difficulty in locating appropriate objectives for a given textual content and 43 p.c. of teachers, in specifying behavioural changes.

2. Effects on the Text-Books :

1. Comparing the Pre-NTQP Text-Book with the post-NTQP text-books, it is found that, the number of exercises as per 100 pages of textual material has increased by 4 times in case of the prose aspect and by 2 times in case of the Poetry aspect,

2. There has been a gradual increase in case of the Prose Exercises and a gradual decrease in case of the Poetry Exercises, as is shown in the following table :—

The P. C. Of Weightage On Prose & Poetry

Aspects	Pre-NTQP Text-Book 1964	Post NTQP Text-Book 1967	Post-NTQP Text-Book 1970
Prose	18	32	39
Poetry	82	63	61
Total	100	100	100

(ii) Short answer type questions start from the base of 25 coverage in the Pre-NTQP text'64. They show ne perpendicular rise from 26 p. c. to 82.4 p. c. in the NTQP text'67. But, again, they come down to 59 weightage in the Post-NTQP text'70 perhaps with the get closer to its relative weightage to the extent of 54 p the NTQP.

(iii) The importance of long answer questions has very much treated in the NTQP. As a consequence, their weighta it was in the Pre-NTQP text'64, also stands curtailed Post-NTQP texts to the extent of 51 p. c.

(iv) Oral expressional abilities were represented by 9 p. c. Pre-NTQP text'64; in the Post-NTQP text'67, they absent; but they have reappeared in the Post-NTQP te with an increased weightage of 14 p. c.

8. 45 p. c. of teachers and 70 p. c. of the experts suggest they can very well make use of the text-book exercis their day to day teaching. But 85 p. c. of teachers an p. c. of experts also hold that they add their own exer to fulfil the purpose.

3. Effects on Class-room teaching :

The introduction of NTDP, duly followed by intensive tra and orientation programmes at various levels, was expected to b in the "objective based class-room teaching" in schools. But, study reveals that the attainment has not been satisfactory and requires re-evaluation of the endeavours and the investment so made in this sphere.

1 The significant feature of the responses to the 'teaching program tool" is that, "a uniform pattern for *preparing* teach programme has not so far been developed for compulsory *Hind*

2. The teachers are accustomed to include only the 'Mean of words' and 'Idioms' in their teaching scheme for langua items. Yet, 74 p. c. of them need further training to transla 'specifications' into such relevant '*behavioural changes*' might be deemed desirable to be stressed at secondary lev So far, 'recognition' of the literal meaning of a word is th only 'behavioural change' in view. Similarly, 'to use the word

a sentence' is the only 'procedure', most popular and widely prevalent (among 69 p. c. of them) among the teachers.

3. Other aspects of 'Language items,' viz., pronunciation, spelling usage, intonation, structure, compounds, suffixes and prefixes, declension, concord etc, have still not caught the attention of the teachers, so as to get themselves included in their teaching pr'gramme.

4. The teachers have no idea of selecting and organizing 'ideations' for different objectives.

Even such intangible terms, like 'the whole text' and 'certain books' have been found mentioned as teaching points by as many as 37 p.c. of the Teachers and 29 p.c. of the Experts.

In case of finding out 'facts', only 40 p. c. of the Teachers succeed, whereas in permuting 'thoughts', only 17 p. c. of them can work with success.

5. The concept "ideations are the tools which can serve the purpose of fulfilling as many objectives as are required", is totally absent.

6. Like the 'Language items' the 'ideations' are also limited to 'recognition' and the only procedure to communicate with the ideations is 'to ask analytical questios', each of them receiving respectively 60 p. c. and 57 p. c. attention of the Teachers.

7. The Interest and Attitude aspects are the most unattended and neglected areas in Hindi Teaching.

8. The teachers are not clear about the objectives of 'Comprehension,' 'Loud Reading', 'Expression' and 'Originality'. They are also not clear about their 'proper location and placement' in the teaching programme.

9. 43 p. c. of teachers have not yet developed the required understanding to inter-relate 'behavioural changes' with the 'teaching procedures.'

10. 72 p. c. of them regard objective-based teaching as 'the most tedious job' and emphasize the need for an intensive training programme in th [illegible]

[illegible]

[illegible]

SUGGESTIONS

...spect to objectives :

(1) The teachers should be intensively trained to develop appropriate skill in 'Reading' and 'Using' the list of objectives.

(2) Standard teaching programmes should be developed and circulated by the concerned authorities for use and follow up, and the teachers should be motivated to work out teaching programmes for a variety of teaching items individually.

(3) The present list of objectives should be re-examined so as to weed out the overlapping, intangible and unnecessarily repeated or duplicated statements from its body. This should necessarily be done under the auspices of the Board of Secondary Education, Rajasthan.

With respect to Text-Books :

(1) The concept of 'Language' correctness' in the NTQP should be precisely defined at some expert-level.

(2) 'Long Answer Exercises' need to be increased so as to cover at least 15 p. c. of the total exercises in the text-book.

3. The concept of including Interest and Attitude aspects in the NTQP needs to be stressed and properly developed, and the text-books should also help emphasizing these aspects in their exercises.

4. The teachers should be motivated to make more and more use of text book exercises in their day-to-day class-room-teaching and reserve only a few of them for home-work assignment The headmasters' supervision in this connection is necessary.

3. With respect to Classroom Teaching

1. The format for preparing teaching programme for 'Language-items', and 'Ideational Items', should be improved and well publicized by the Board or the Department of Education

2 The basic concepts of terms, viz., Knowledge, under-standing, comprehension, application, originality, synthesis etc. etc must be clearly explained to the teachers before they set themselves to teaching. More emphasis should be given to these items in the training programme whether it is inservice or pre-service.

3. The area of 'word-meaning' should be re-defined for Secondary and Higher Secondary Stage. It should not be limited to giving the literal meaning only it should also extend itself to various other desirable linguistic and semantic aspects. Training Colleges should undertake this responsibility.

4. Teachers, either through specially organized re-orientation courses or through various regular training institutions, should be thoroughly trained to develop the necessary skill to instantly sort out the relevant teaching points from a given text, for specific behavioural changes and select appopriate teaching-procedures for fulfilment of the same.

5. Concerning authorities should look into the problems of work-load and unfavorable attitude on the part of the teachers towares objective-based teaching in schools and encourage teachers for effective follow up

Selected Bibliography

1. Benjamin S. Bloom and others : Taxonomy of Educational Objectives : Book-I : David Mc Kay Comp. : York, 1963.
2. Central Hindi Institute : भाषा-शिक्षण तथा भाषा-विज्ञान : आगरा १९६६.
3. D. E. P. S. E. : Evaluation in Secondary Education : Delhi : 1960.
4. D. E. P. S. E. : Improving Examinations : Delhi : 1963.
5. D. E. P. S. E. : The Concept of Evaluation in Edu. Delhi : 1960.
6. N. C. E. R. T. : Teaching Reading a challenge : Reading Monograph I; Reading Project : New Delhi
7. N. C. E. R. T. : Preparation of Text-Books in Mother Tongue : Reading Monograph II : Reading Project : New Delhi.
8. N. C. E. R. T. : Preparation & Evaluation of Text-Books in Mother Tongue ; New Delhi.
9. Raj Sec. Board, Ajmer : हिन्दी का नमूने का प्रश्न-पत्र : १९६८
10. Raj Sec Board, Ajmer : इकाई प्रश्न-पत्र : हिन्दी अनिवार्य : १९६८
11. Raj. Sec. Board, Ajmer : संघटित प्रतिवेदन : १९६७
12. Robert L. Ebel : Measuring Edu. Evaluation : Practice Hall of India : New Delhi : 1966.
13. Schwartz & Tiedeman : Evaluating Student's Progress : David Mc Kay Company New York.
14. S. I. E., Udaipur : मातृभाषा शिक्षण में इकाई-योजना : १९६७
15. Smith, Goodman & Meredith : Language & Thinking in Ele. Schools : Halt Rinehort & Winston Inc New York . 1970.
16. Thomas M. Risk : Principles & Practices of Teaching in Sec. Schools : Eurasia Publishing House New Delhi ; 1965.

इस अंक के लेखक

१. श्री चिरंजीलाल भारद्वाज, सेवा निवृत्त प्रधानाचार्य, महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, कोटा।

२. श्री निहालसिंह शर्मा, प्राध्यापक, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

३. श्री पुरुषोत्तमलाल तिवारी, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

४. श्री विपिन बिहारी बाजपेयी, प्रधानाचार्य, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

५. श्री बनवारीलाल शर्मा, प्राध्यापक रा० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

६. श्री भंवरदान चारण, प्राध्यापक, रा० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

७. श्री मोहनलाल रंगा, प्राध्यापक, रा० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

८. श्री मेहरचन्द शर्मा, प्रधानाध्यापक, राजकीय माध्यमिक विद्यालय, दफ्तरियों का चौक बारहगुवाड़, बीकानेर।

९. श्री सौभाग्यदान चारण, प्राध्यापक, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१०. श्री अमरलाल शर्मा, उपप्रधानाचार्य, रा० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

११. श्री हरिनन्दन मिश्रा, प्राध्यापक, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१२. श्री विजय बिहारीलाल माथुर, प्राध्यापक, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१३. श्री शान्तिलाल जैन, प्राध्यापक, रा० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१४. श्री जेठमल सोनी, समन्वयक, प्रसार सेवा विभाग, रा० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१५. श्री विद्याधर जोशी, प्राध्यापक, रा० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१६. श्रीमती स्वर्ण सूदन, प्राध्यापक, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१७. श्री अम्बालाल नागर, प्राध्यापक, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, अजमेर।

१८. श्री कुंज बिहारी माथुर, प्राध्यापक, राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, बीकानेर।

१९. श्री लक्ष्मीलाल के० ओड, प्रधानाचार्य, वनस्थली विद्यापीठ शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, वनस्थली।